गत श्रावणाङ्क के वक्तव्यसूक्ति संस्मरण में यह स्पष्ट किया गया था कि, गुप्ताकोप लक्षित अन्तरिक्ष में, एवं पृथिवी में दोनों स्थानों में समानरूप से वृष्टि हुआ करती है। अग्निदेवता अन्तरिक्ष में पानी बरसाते हैं, पर्जन्यदेवता भूमि पर पानी बरसाते हैं। प्रकृत संस्मरण में भी इसी पूर्व संस्मरण का स्पष्टीकरण हुआ है। जिस प्रकार सौरसावित्राग्नि रश्मियों के द्वारा भूपिण्ड की ओर अजस्र रूप से आया करता है, एवमेव पार्थिव आङ्गिराऽग्नि अहर्गणों के द्वारा द्युलोक की ओर आया करता है। जाते हुए इस प्राणाग्नि के आकर्षण से आकर्षित समुद्र सरित ओषधि, वनस्पति, प्राणिशरीर आदि में भुक्त पार्थिव सप्तमात्रा (रसमात्रा) धूम (वाष्प) रूप में परिणत होकर अन्तरिक्ष में चली जाती है। यही इस पार्थिव पानियों का 'गर्भाधान' है। अन्तरिक्ष में स्थाम वायुविशेष मरुत नाम से प्रसिद्ध है, जिस के सप्त-सप्तक (४९ मरुत) अन्तरिक्ष में इतस्ततः प्रवाहित रहते हैं। भूलोक से जाते हुए आङ्गिरोऽग्नि के द्वारा अन्तरिक्ष में प्रक्षिप्त (फैंके गए) ये वाष्परूप पानी इन वायु धरातलों में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। जिस दिन पानी का अग्निद्वारा वायु धरातल में गर्भाधान होता है, उस से ठीक १९५ वें दिन वह पानी सूर्य रश्मियों के आघात से भूमि पर गिर पड़ता है यही इस का प्रसव माना गया है। गर्भकाल प्रसवकाल दोनों के मध्य का काल 'दौहृदकाल' कहलाया है। पार्थिव अग्नि सौररश्मि के अतिरिक्त-पर्जन्यवायु, विद्युत स्तनयित्नु अभ्र मेघ आदि आदि अन्य पदार्थ भी इस वृष्टिकर्म के सहायक बनते हैं। भारतीय अन्यान्य विद्याओं में वृष्टिविद्या भी अपना एक विशेष महत्त्व रखती है। प्रस्तुत अङ्क में उद्धृत होने वाले ध गादापन ब्राह्मण की १८ वीं कण्डिका में इसी वृष्टिविद्या का विश्लेषण हुआ है। तत्कण्डिका के विवेचना प्रकरण में विस्तार से इसी विद्या पर प्रकाश डाला गया है जो पाठकों के लिए विशेषरूप से अनुसन्धान की सामग्री मानी जायगी। प्रस्तुत अङ्क के १५२ वें पृष्ठ से वृष्टिविज्ञान का प्रारम्भ हुआ है। एवं लगभग ५—६ पृष्ठों में इस का प्रतिपादन हुआ है। जिन में से प्रकृत अङ्क में मुद्रणप्रणालुगता परिस्थिति के वश केवल २ पृष्ठ ही प्रकाशित हो पाए हैं। शेषांश अगले (३) अङ्क की प्रतीक्षा में है जिस प्रतीक्षा की सफलता प्राच्यसाहित्य प्रेमियों की कृपा पर ही अवलम्बित है।

* *

घ—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह—

आहवनीयाग्नि के दक्षिण भूप्रदेश में खड़े होकर आहवनीयाग्नि की दक्षिणाग्नि ज्वाला में समन्त्रक याजानुगत उत्तराघार करने के अनन्तर (स्रुवस्थित आज्य की अविच्छिन्न धारारूप से आहुति देने के अनन्तर) वह अध्वर्यु आहवनीय के पश्चिम भाग में लौट आता है। यहाँ आकर उपभृत् से असंस्पृष्ट जुहू के आज्यप्रदेश का ध्रुवास्थित आज्य से सम्बन्ध करा देता है" यह इतिकर्तव्यता पूर्वसूत्र में (१।२।२१) प्रतिपादित हुई है। अब अवशिष्ट सूत्रानुगत भाग की इतिकर्तव्यता बतलाई जाती है। जुहूस्थित आज्यभाग का ध्रुवास्थित आज्य के साथ समञ्जन कराने के अनन्तर दूसरे शब्दों में पूर्वनिरूपिताघारण की इतिकर्तव्यता समाप्त करने के अनन्तर वह अध्वर्यु उपभृत् जुहू नाम के दोनों स्रुक् पात्रों को स्वस्थान में (उनके लिए पहिले से नियत स्थान में) रख देता है। इस प्रकार से स्रुक्द्वयी के यथास्थान रखने के अनन्तर वह अध्वर्यु वेदी से उत्तरमार्ग द्वारा निकल कर उत्कर कुण्ड के पश्चिम भाग की ओर पूर्वाभिमुख खड़ा होकर इध्मसन्नहनों (काष्ठ बाँधने के रस्सियों) को अपने हाथ में लेता हुआ— "ओ श्रावय" इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता है। अग्निसम्बन्धी अतएव आर्षेय प्रवरस्थान वाले यज्ञकर्त्ता यजमान के देवों का कीर्तन करने के उद्देश्य से ही 'ओ श्रावय' मन्त्र का उच्चारण होता है। इस का तात्पर्य यही निकलता है कि, हे आग्नीध्र! अब तुम यजमान की सिद्धि देवताओं के प्रति सुनवाई करो। अध्वर्यु के मुख से निकले हुए 'ओ श्रावय' प्रैष आश्रावण की सफलता-सूचित करता हुआ आग्नीध्र नामक ऋत्विक् अध्वर्यु से उत्तर दक्षिणाभिमुख खड़ा हुआ स्फ्य तथा इध्मसन्नहन हाथ में लेकर बोलता है— अस्तु श्रौषट्। अध्वर्यु कृत 'ओ श्रावय' कर्म आश्रावण कर्म है एवं आग्नीध्रकृत अस्तु श्रौषट् कर्म प्रत्याश्रावण कर्म है। यह आश्रावण, तथा प्रत्याश्रावण कर्म यज्ञसम्बन्ध प्रकाशन करने के लिए इध्मसन्नहनों को हाथ में लिए ही करना चाहिए। किन्तु एक याज्ञिक सम्प्रदाय प्रशान्ति के लिए यदि पर छिद्रे स्फ्यतूण का अथवा इध्म की सन्नहन का उत्पाद उस हाथ

में लेकर आश्रावण प्रत्याश्रावण करते हैं जैसा कि, कात्यायन श्रुति में किया है। इस प्रकार प्रवरण कर्म से पूर्व अग्नीत् आश्रावण करता है, अध्वर्यु श्रावण करता है। कर्काचार्य का इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण और है कि, 'इत्थमाश्रावण' ग्रहण केवल होतृवरण सम्बन्धी आश्रावण प्रत्याश्रावण कर्म में ही होता है। आश्रावण-प्रत्याश्रावण की इसी इतिकर्तव्यता का निम्न लिखित सूत्रानुक्रमणी से स्पष्टीकरण हुआ है—

(१)—"निगमेष्वसत्स्वनान्यात्—'ओ श्रावय' स्वाह"
(का श्रौ सू ३।७।१)।

(२)—"अस्तु श्रौषट् इत्यग्नीत्" (का ३।२।७)।

(३)—"वेदिमहि रिप्सतः [illegible]" (का० ३।२।७)।

(४)—"एवं सर्वत्राऽऽश्रुत-प्रत्याश्रुतेषु" (का० ३।२।३)।

आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्मानन्तर यह अध्वर्यु इध्मसन्नहनरज्जुओं को अपने हाथ में रखता हुआ ही दिव्याग्निलक्षण होता का अपने इस मत्र में— 'अग्निर्देवो दैव्यो होता देवान्यक्षद्विद्वांश्चिकित्वान्मनुष्वद्भरतवत्' इस निगममन्त्र का उच्चारण करता हुआ वरण करता है। इस प्रकार सर्वप्रथम दिव्याग्नि का ही वरण किया जाता है जिस वरणकर्म का निम्न लिखित सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

"अथ प्रवृणीते—"ऽग्निर्देवो दैव्यो होता देवान्यक्षद्विद्वांश्चिकित्वान्-मनुष्वद्भरतवत्" (का ३।२।७)।

दिव्याग्नि का इस प्रकार होतृत्वेन वरण करने के अनन्तर आर्षेय यजमान का नाम-ग्रहण पूर्वक वरण करता है। यजमान सम्बन्ध से ही मिलने से आर्षेय 'यजमानार्षेय' कहलाए हैं। पर स इस ओर— गौतमवत् भरद्वाजवत्-आङ्गिरोवत्" इत्यादि रूप से, 'काश्यपवत् आवत्सारवत्-नैध्रुववत्' इत्यादि रूप से — 'भार्गव-च्यावनवत् आप्नवानवत्' इत्यादि रूप से गौतम काश्यप, भृगु भरद्वाजादि यजमान गोत्रानुसार यजमान के तीन ऋषियों का विपरीतक्रमेण उच्चारण करता है। अथवा यजमान कुल में जितने भी मंत्रद्रष्टा प्रवराध्याय में उपवर्णित हैं उन सब का नाम लिया जा सकता है। किसी का

संस्कृत एक ऋषि है, वहाँ एक प्रवर कहलाता है। किसी के दो मन्त्रकृत हैं, किसी के तीन हैं, किसी के चार, किसी के पाँच हैं। ये क्रमशः द्विप्रवर, त्रिप्रवर, चतुष्प्रवर, पञ्चप्रवर कहलाते हैं। जिनके जितने प्रवर हैं, उन सब का भी वरण करना पक्षान्तर है, यही तात्पर्य है। दोनों पक्षों के सम्बन्ध में निष्कर्ष यही है कि, आर्षेय प्रकरण में – 'आर्षेयं वृणीते' यह कह कर भगवान् आपस्तम्ब ने कहा है— "एकं वृणीते द्वौ वृणीते त्रीन् वृणीते न चतुरो वृणीते न पञ्चातिवृणीते" (आप. श्रौ. २।१६।८।)। यदि सूत्रगत त्रिपक्ष को विधिपरक मान लिया जाता है, तो तीन का ही वरण न्यायप्राप्त होता है एवं यही कात्यायन का प्रथम पक्ष है। यदि 'आर्षेयं वृणीते' इसे विधि-परक माना जाता है तो सभी मन्त्र-द्रष्टाओं का वरण प्राप्त हो जाता है, एवं यही कात्यायन का उत्तरपक्ष है। अभिषिक्त क्षत्रिय (राजा), अनभिषिक्त क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीनों में वरण कर्मानुगमा इतिकर्त्तव्यता कुछ विशेषता रखती है। यदि अभिषिक्त क्षत्रिय यज्ञ कर रहा है तो अध्वर्यु उस क्षत्रिय राजा के कुलपुरोहित के आर्षेयों का भी वरण कर सकता है अथवा स्वयं राजा के आर्षेयों का भी वरण कर सकता है। यदि अनभिषिक्त सामान्य क्षत्रिय का तथा वैश्य का यज्ञ है, तो उस अवस्था में प्रत्येक दशा में इन के कुल-पुरोहितों के आर्षेयों का ही वरण होता है। एक पक्ष यह भी है कि—ब्राह्मण, अभिषिक्त क्षत्रियराजा, अनभिषिक्त सामान्य क्षत्रिय-वैश्य सब का 'मनुवत्' इस निगद मन्त्रद्वारा भी आर्षेय वरण किया जा सकता है। निम्न लिखित सूत्रपञ्चक से इसी आर्षेय-वरणक्रम का स्पष्टीकरण हुआ है—

(१)—"अमुवदमुवत्" दिति यजमानार्षेयाण्याह परस्तादर्वाञ्चि त्रीणि"
(का. १।५।८।)।

(२)—"यावन्तो वा मन्त्रकृत" (का. १।५।९)।

(३)—"पुरोहितार्षेयेण वा" (का. १।५।१०।)।

(४)—"क्षत्रिय-वैश्ययोश्च नित्यम्" (का. १।५।११।)।

(५)—"'मनुवत्' दिति वा सर्वेषाम्" (का. १।५।१२।)।

। उक्त प्रकार से आर्षेयोपाख्यानान्तर वह अध्वर्यु— 'ब्राह्मणा च वक्तृ ब्राह्मणा [illegible] यज्ञस्य प्रावितारः" इस निगदरूपमन्त्र का उच्चारण करता है। अनन्तर— '[illegible] धर्मा होता मानुषः' ('असौ मानुषः') का बोलता है। यह उच्चारण मानुष होता का ही वरण वाचक है। मानुष होता का उच्चारण से नाम लेना प्राप्त होता है यदि से (उपांशुरूप से) नामोच्चारण करना यथान्तर है। इस प्रकार मानुष-होतृवरणानन्तर वह होता (मानुष होता) 'यत्त्वा देव [illegible]' इत्यादि ([illegible] करने के अनन्तर) अध्वर्यु तथा आग्नीध्र दोनों के [illegible] प्रदेश का स्पर्श करता है। तदनन्तर अध्वर्यु तथा आग्नीध्र, दोनों यथास्थान बैठ जाते हैं। इसी इतिकर्तव्यता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(१)—"ब्राह्मणवदा च वक्तृ ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितारोऽसौ मानुष" इति होतृनामग्रहणम्" (का० ३।२।१३)।

(२)—"उपांशु वा" (का० ३।२।१४)।

(३)—"सम्मृज्य उपविशतः" (का० ३।२।१५)।

इति प्रवरानुगतपद्धतिसंग्रहः (च)

८—वैज्ञानिक विवेचना—

१—आश्रावणकर्म्मोपपत्तिः

उपांशुयाज कर्म्मानन्तर जुहूस्थित आज्यशेष का ध्रुवास्थित आज्य से समञ्जन कराया जाता है अनन्तर जुहू उपभृत् नामक दोनों स्रुचाओं को यथास्थान रख दिया जाता है। इस कर्म्म के अनन्तर वरणकर्म्म आरम्भ होने वाला है। जिन दर्भतृणसमूहों से सम्मिलित इध्म (काष्ठ) बांधे जाते हैं वह तृणसमष्टि 'इध्मसन्नहन' नाम से व्यवहृत हुई है। इसे हाथ में लेकर ही अध्वर्यु तथा आग्नीध्र नामक ऋत्विक् आश्रावण-कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता पूरी करते हैं। पहिले अध्वर्यु 'आ श्रावय' इस निगद मन्त्र का उच्चारण करता है अनन्तर आग्नीध्र 'अस्तु श्रौषट्' इस निगद मन्त्र का उच्चारण करता है, यही प्रत्यक्ष ब्राह्मणानुगत आश्रावण कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता है जैसा कि सूत्रानुगत पद्धतिप्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। ब्राह्मण की १ २ ३ इन तीन कण्डिकाओं में उपपत्ति प्रदर्शन-पूर्वक इस आश्रावण कर्म्म का ही प्रतिपादन हुआ है।

वरण कर्म्म से पहिले आश्रावण क्यों किया जाता है? इसी प्रश्न का औपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है—'यह आश्रावण कर्म्म निश्चयेन यज्ञ है'। वरण कर्म्म से इन ऋत्विजों के द्वारा यज्ञेतिकर्त्तव्यता का ही सम्पादन अभीष्ट है। दूसरे शब्दों में वरण कर्म्म एक प्रकार का यज्ञाधिकार (यज्ञेतिकर्त्तव्यता–निर्वाहाधिकार) प्रदान है। इस यज्ञाधिकार प्रदानक्षण में वरण कर्म्म के उपक्रम में प्राकृतिक यज्ञ का सम्बन्ध अपेक्षित है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आश्रावणात्मक यज्ञ का वरणकर्म्म से पहिले अनुगमन किया जाता है। 'आ श्रावय' इस निगद मन्त्र का तात्पर्य यही है कि, जिनका आज हम इस यज्ञ में वरण करना चाहते हैं उन्हें प्राकृतिक देवता स्वीकार करलें। इसे हम आज के यज्ञस्वरूप यज्ञ कर्म्म के लिए आज हम होता बना रहे हैं" यही आश्रावण का निष्कर्ष है। [illegible] पार्थिव प्राण-देवताओं का आहुति क्रम द्वारा [illegible] प्राण–देवताओं

के साथ अन्तर्याम सम्बन्धात्मक बन्धन करना ही 'यज्ञ' है। आचमन कर्म से दिव्य प्राण-देवताओं की दृष्टि चूँकि इस यज्ञकर्म की ओर हो जाती है अतएव ही देवतानुप्रवेश रूप आचमन को यज्ञ कहा जा सकता है। इस प्रकार आचमन कर्म करना दिव्यप्राणात्मक यज्ञ का अनुगमन करना है। जिसकी स्वरूप निष्पत्ति के लिए व्रत कर्म अपेक्षित है, आचमन कर्म से वह स्वीकृत बन जाता है। अतएव व्रत से पहिले आचमन-कर्म आवश्यक बन जाता है ॥ १ ॥

जिन दर्भमूलसमूहों से (दर्भरज्जु से) यज्ञिय इध्म-काष्ठ बांधे जाते हैं वे 'इध्मसन्नहन' (समिधी बांधने की दर्भरज्जु) नाम से व्यवहृत हुए हैं। वेदि पर जो तृण आदि बिखरे रहते हैं उन्हें इसी दर्भरज्जु से हटाया जाता है। इस दर्भरज्जु को हाथ में लेकर ही यजमान आचमन कर्म करता है। आचमन कर्म इध्मसन्नहन हाथ में लेकर क्यों किया जाता है? इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, यदि यह यजमान यज्ञारम्भ इस इध्मसन्नहन को आलम्बन बनाए बिना आचमन करेगा तो इसकी अध्यात्मसंस्था कम्पित हो जाएगी अथवा और किसी विपत्ति का सामना करना पड़ेगा"। द्युलोकस्थ प्राण-देवताओं का आकर्षणात्मक आचमन-कर्म 'यज्ञ' है जैसा कि पूर्व कण्डिका में स्पष्ट किया जा चुका है। 'यज्ञात्मक आचमन कर्म यज्ञ की मात्रा में करना ही करना चाहिए' इस कथन से श्रुति इध्मसन्नहन को भी यज्ञात्मक बतला रही है। तात्पर्य इस कथन का यही है कि, यज्ञतत्त्व अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत भेद से तीन भागों में विभक्त है। सौरसम्वत्सराग्निमय आदित्यादि-पार्थिवान्तसोमात्मक, द्युलोकोपलक्षित यज्ञ आधिदैविक यज्ञ है। पार्थिवसम्वत्सराग्निमय अग्निवायु-चान्द्रसोमात्मक, भूलोकोपलक्षित यज्ञ आधिभौतिक यज्ञ है। एवं वैश्वानरादि-अन्नसोमात्मक, शारीरिक यज्ञ आध्यात्मिक यज्ञ है। आचमन कर्म देवताकर्षक बनता हुआ आधिदैविक-यज्ञ है, आचमनकर्ता यजमान आध्यात्मिक यज्ञ है। एवं इध्म-सन्नहन निःसंदेह आधिभौतिक यज्ञ है। साथ ही त्रिवृत्स्तोमात्मक पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व के ज्योतिर्मयभाग से उत्पन्न होने के कारण इसे साक्षात्रूप से भी पार्थिवयज्ञ है। इधर 'अद्भ्यः पृथिवी' सिद्धान्तानुसार अप्तत्त्व से उत्पन्न पार्थिवयज्ञ अन्नात्मक (मेनात्मक) रस का सजातीय भी है।

अब तक अध्यात्मस्थ इस ओर के पार्थिव (आधिभौतिक) उस ओर के दिव्य

(आधिदैविक) यज्ञ, दोनों से अनुगृहीत रहता है तब तक इसका स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है। दोनों में भी पार्थिवशरीरप्रधाना अध्यात्मसंस्था की प्रधान प्रतिष्ठा आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ है। इस प्रतिष्ठा के निकल जाने से ही निधनावस्था का आगमन होता है प्रतिष्ठाविच्युति से इस पर अन्यान्य विपत्तियाँ आक्रमण करती हैं। जब पार्थिव यज्ञ-प्रतिष्ठा उच्छिन्न हो जाती है, तो केवल द्युलोकाकर्षण का प्राधान्य रह जाता है। यह द्युलोकाकर्षण प्राधान्य ही पार्थिवप्रतिष्ठाविच्छेद का कारण है। यावदायुर्भोगपर्यन्त उभय सुखप्राप्ति के लिए ही द्युलोकस्थानीय आहवनीय तथा भूलोकस्थानीय गार्हपत्य दोनों के मध्य में खड़े होकर 'अप उपस्पृश्य' (आचमन) कर्म किया जाता है जैसा कि — "अन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ् तिष्ठन्नप उपस्पृशति" (शत० १।१।१।१) इत्यादि रूप से विस्तार से बतलाया जा चुका है। ठीक यही प्रयोजन यहाँ अपेक्षित है। यदि अध्वर्यु पार्थिव यज्ञ को आलम्बन बनाए बिना द्युलोकानुगत आधिदैविक यज्ञसम्पादक आधान कर्म करेगा तो विशुद्ध दिव्यरस के प्राधान्य से इसकी पार्थिव यज्ञप्रतिष्ठा पर आघात होगा। फलतः प्रतिष्ठाविच्युति हो जायगी अथवा तो अन्य किसी विपत्ति का अनुगमन करना पड़ेगा। इस आपत्ति से बचने के लिए आधानीय कर्म करते समय (आधिदैविक यज्ञसम्पत्ति-संग्रह करते समय) पार्थिव यज्ञ को आलम्बन बनाना आवश्यक हो जाता है। इसी उद्देश्य से इध्मशकल को (पार्थिव अग्निद्रव्य को) हाथ में लेकर ही आधान कर्म किया जाता है ॥ २ ॥

"इयं (पृथिवी) वै वेदिः" (शत० ७।१।१।२५) श्रुति के अनुसार आधिभौतिक यज्ञ की प्रतिष्ठा (वितानस्थान) पृथिवी है यही इस यज्ञ की वेदि है। प्रकृत यज्ञ में जो वेदि बनाई गई है वह नितान्त पृथिवी-स्थानीया ही है यही इस यज्ञ की प्रतिष्ठा है। वेदि पर बिछे हुए दर्भतृण ओषधि-वनस्पति स्थानीय हैं जिन्हें यज्ञ-समतुलन की दृष्टि से वेदिरूप शरीर के लोम (ओषधि) केश (वनस्पति) भी कहा गया है। अग्नि प्रज्वलित करने के लिए, तथा सामिधेनीकर्म-सम्पादन के लिए जो इध्म भार (काष्ठभार) लाया जाता है वह नितान्त अग्नि है। 'गर्भो वनेषु मातो अग्ना मर्त्यान इष्यते' (ऋग्वेद ८।१।१५) इत्यादि मन्त्रश्रुति के अनुसार काष्ठ में अग्नि गुप्त है। यही गुप्तमात्र अग्नि है जिसे अध्यात्म सम्बन्ध से कृष्ण-मृग कहा जाता है। वेदि और इध्मकाष्ठ दोनों

पार्थिव (आधिभौतिक) यज्ञात्मक है। आघारण कर्म में पार्थिव प्रतिष्ठा ही अभिप्रेत है। अतएव या तो वेदि पर बिछे दर्भतृण को लेकर आघारण करना चाहिए, अथवा इध्म काष्ठ को लेकर आघारण कर्म करना चाहिए। वेदितृण से साक्षात् रूप से इध्म खण्ड से परम्परया पार्थिव प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है इस उपपत्ति को आगे रखते हुए किन्हीं एक साम्प्रदायिक आघारण कर्म में वेदिस्थित दर्भतृण अथवा इध्मखण्डग्रहण का समर्थन कर रहे हैं।

भगवान् कात्यायन की दृष्टि में वेदितृण अथवा इध्मखण्ड, दोनों में से किसी को भी लेकर आघारण कर्म करना सिद्धान्तविरुद्ध है। कारण क्या है। यह ठीक है कि वेदितृण तथा इध्मखण्ड दोनों ही पार्थिव प्रतिष्ठात्मक हैं। परन्तु ये दोनों अन्य कर्म में विनियुक्त हैं। वेदितृण को लेना एक दृष्टि से यज्ञपुरुष के लोम-केशों का उत्पाटन करना है दूसरी दृष्टि से पृथिवी की ओषधि-वनस्पति को पृथिवी (वेदि) से पृथक् कर उसे ऊसर बनाना है। इस के अतिरिक्त वेदिस्थित दर्भतृण 'सुप्रजा मयं' के अनुसार देवताओं का प्रतिष्ठात्मक आसन है। इसे उठाना आगत देवताओं को प्रतिष्ठा विच्युत करना है। ऐसी दशा में वेदितृण ग्रहण करना सर्वथा अनुचित ठहरता है। इध्मकाष्ठ इध्म-समिन्धन कर्म के लिए नियत हैं। इसका खण्ड लेना समिन्धनकर्म को अपूर्ण बनाना है। फलतः इध्मखण्ड ग्रहण भी अवैध बन जाता है। कात्यायन उन साम्प्रदायिकों से प्रश्न करते हैं कि, जिन दर्भतृणों से इध्मकाष्ठ बांधा जाता है क्या वे इध्मसम्बन्ध रहित नहीं हैं? क्या इनमें पार्थिव प्रतिष्ठा नहीं है?॥ जब कि इन दर्भतृणों से यज्ञात्मक इध्म बांधा जाता है, इन से भूमि-सम्मार्जन कर्म होता है, [illegible] सम्पादन भी कई एक परिशिष्ट कर्म होते हैं तो इन की यज्ञात्मकता में क्या सन्देह रह जाता है। अतः या इध्म सन्नहनतृण ऐसे ऐसे परिशिष्ट कर्मों के लिए ही नियत हैं साथ ही वेदितृण तथा इध्मखण्ड ग्रहण अनुचित है तो प्रत्येक दशा में इध्मसन्नहन तृणपूर्वक ही आघारण-कर्म करना चाहिए॥ १॥

— ९ —

२—दिग्व्याघ्रिप्रवरणकर्म्मोपपत्ति

कण्डिका ४ से आरम्भ कर ८ वीं कण्डिका पर्य्यन्त पाँच कण्डिकाओं में प्राकृतिक दिव्य प्राणाग्नि के वरण की सोपपत्तिक इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण हुआ है। दिव्य यज्ञ में होतृत्वेन वृत प्राणाग्नि के क्या क्या कर्म्म हैं ?, प्रतिपाद्य उपपत्ति प्रकरण में इसी प्रश्न का समाधान हुआ है। जिन इध्मनामकतन्त्वात्मक दर्भतृण-समूहों से यज्ञियकाष्ठ सम्भार बाँधा जाता है पूर्वकथनानुसार उन्हें हाथ में लेकर वह अध्वर्यु—'ओ श्रावय' इस निगम्मन्त्र का उच्चारण करता हुआ 'आश्रावण' कर्म्म करता है। अध्वर्यु के इस आश्रावण कर्म्म के अनन्तर आग्नीध्र नामक ऋत्विक् 'अस्तु श्रौषट्' इस निगदमन्त्रोच्चारण से प्रत्याश्रावण कर्म करता है। अध्वर्युकर्त्तृक इस आश्रावण, तथा आग्नीध्रकर्तृक प्रत्याश्रावण-कर्म्म के अनन्तर अध्वर्यु उन इध्मतन्तुरूपतन्तुओं को अपने हाथ में रखता हुआ ही—"अग्निर्देवो दैव्यो होता देवान् यक्षद्विद्वांश्चिकित्वान् मनुष्वद्भरतवत्" इस निगद मन्त्र का उच्चारण करता हुआ दिव्याग्नि का ही अपने इस वैध यज्ञ में होतृत्वेन वरण करता है जो कि अध्वर्युकर्तृक कर्म्म 'होतृप्रवरणकर्म्म' कहलाता है।

यज्ञकर्म्म में होनेवाले होम कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता जिस ऋग्वेदी ऋत्विक् द्वारा सम्पन्न होती है वही 'होता' कहलाता है। होमकर्म्मेतिकर्त्तव्यता-लक्षण अधिकार प्रदान के लिए होने वाला अध्वर्युकर्तृक कर्म्म ही 'होतृप्रवरण' कर्म्म है। इस मानुष होतृप्रवरण कर्म्म से पहिले दिव्याग्नि का वरण करना क्यों आवश्यक समझा गया ? दूसरे शब्दों में दिव्याग्निवरण क्यों अपेक्षित है ? इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, इस वरणकर्म्म से देवताओं के होता अग्नि से तथा यज्ञदेवताओं से अपनी पृथक्ता का ही निराकरण किया जाता है। तात्पर्य यही है कि, प्राकृतिक साम्वत्सरिक, अग्नीषोमात्मक यज्ञ ही वास्तविक यज्ञ है। इस यज्ञ का होतृत्व पार्थिव प्राणाग्नि पर अवलम्बित है। पार्थिव प्राणाग्नि के 'एति-प्रैति' लक्षण गमनागमन व्यापार से ही पारमेष्ठ्य सोम का आहरण होता है। ग्रहणात्मक इस प्राणाग्नि से आहृत सोम ही पार्थिव आग्नेय ११ प्राण देवताओं के यज्ञ का स्वरूप सम्पादक बनता है। इस यज्ञस्वरूप-निष्पत्ति के अतिरिक्त मृत्युलोकस्थ सौर-सावित्र इन्द्रप्राण का पार्थिव प्राणाग्नि के साथ सम्बन्ध कराना भी उक्त लक्षण प्राणाग्नि का ही कर्म्म है। इस देवाह्वान लक्षण देवयजन (दे

जाता है। अध्यात्मपरिभाषानुसार भौतिकतत्त्व परिज्ञाता विद्वान् है, प्राणतत्त्व परिज्ञाता चिकित्वान् है। लोकपरिभाषानुसार शाब्दिक ज्ञानाभिज्ञाता विद्वान् है अनुभवशील चिकित्वान् है। सामान्यरूपेण परिज्ञाता विद्वान् है विशेषरूपेण परिज्ञाता चिकित्वान् है (देखिए ऋक् सं १ म । १६४ सू । ६ म सायणभाष्य)। प्राणाग्नि पार्थिव पिण्ड का विद्वान् भी है, और चिकित्वान् भी। अपने भौतिक रूप से यह समस्त वयुनों के विद्वान् हैं—'वयुनानि विद्वान्'। एवं अपने प्राणरूप से ये पार्थिव-पिण्डों के प्राणस्वरूप के विशेष परिज्ञाता बनते हुए चिकित्वान् हैं। यज्ञकर्म में उभयविध देवताओं का भूतों के आधार पर यजन होता है। फलतः अपने देव यज्ञ में भी वही सफलता प्राप्त कर सकता है, जो ठीक ठीक (अनुक्रमा) यजन कर सकता है जो भूतों का विद्वान् तथा प्राणों का चिकित्वान् है। यजमान के इस यज्ञ में प्राणाग्नि के इन्हीं दोनों धर्मों का समावेश कर प्राणाग्नि के अनुग्रह से यज्ञ सफलतासिद्धि के लिए 'देवान् यक्षत्' इत्यादि कहा गया है ॥ १ ॥

'मनुष्वत्त्वा' यह मन्त्र का अगला भाग है। सूर्येन्द्रात्मक इन्द्रप्राणात्मक, बृहती सम्पत्ति से युक्त भास्वान् के ज्योतिष्मत् नामक सायण मन से अनुप्राणित, सृष्टि-सञ्चालक प्राणतत्त्व ही आधिदैविक मनु है। यही साम्वत्सरिक प्राणाग्नि के सहयोग से आधिदैविक सम्वत्सर यज्ञ के सफल समर्थक बन रहे हैं। इन्द्रात्मक प्रज्ञाप्राणमूर्ति आयुःस्वरूपाभिज्ञाता इन्द्रप्राणात्मक, मनोऽनुप्राणित प्राणतत्त्व ही आध्यात्मिक मनु है। यही शारीर प्राणाग्नि के सहयोग से आध्यात्मिक यज्ञ के सफल समर्थक हैं। वैवस्वत मनु लोक, प्रजा नाम की सृष्टि-परम्परा के प्रवर्तक, आदि प्रजा मानव स्वयम्भू आधिभौतिक (ऐतिहासिक) मनु हैं (३)। इन्होंने ही प्राकृतिक यज्ञ-स्थिति के अनुसार सर्वप्रथम देव यज्ञ का अनुष्ठान किया है (था)। इस प्रकार आधिदैविक-आध्यात्म-आधिभूत तीनों दृष्टियों से त्रिविध मनु ही यज्ञ के प्रवर्तक हैं। अतएव शाखीय-सम्प्रदाय में 'यह यज्ञ मनु का है' (मनोर्वेयज्ञस्तु यज्ञभागः) यह प्रसिद्ध है।

जिस प्रकार 'मनु' शब्द उभयलिङ्गात्मक (नपुंसकलिङ्ग, तथा पुंलिङ्गात्मक) है एवमेव उकारान्त 'मनुः' शब्द पुंलिङ्ग है एवं सकारान्त 'मनुः' शब्द नपुंसकलिङ्ग है। 'मनुष्याः' इत्यादि रूप सान्त मनुःशब्द से सम्बन्ध रखते हैं एवं 'मानवाः' इत्यादि शब्द उकारान्त

सम्बन्धी है। प्रकृत में तन्त्र मनुः शब्द का ही ग्रहण हुआ है। फलतः 'मनुष्वत्' का का तात्पर्य निकलता है—'मनुरिव'। जिस प्रकार मनु ने यजन किया था एवमेव यह प्राणाग्नि भी होता बन कर इस यज्ञ में देवताओं का यजन करे 'मनुष्वत्' मन्त्र भाग का यही एक तात्पर्य है। यदि मनुष्वत्' का मनुरिव' विग्रह न कर मनोरिव' यह विग्रह किया जाता है तो इस का तात्पर्य यह निकलता है कि जस मनु के यज्ञ में होता बन कर अग्नि ने देवताओं का यजन किया था तथैव इस यज्ञ में भी वे अग्नि होता बन कर देवताओं का यजन करें। मनुर् वाऽअग्रे यज्ञेनेजे' इस से मनुरिव विग्रहानुसार प्रथमार्थ अपेक्षित है। एवं मनोर्यज्ञऽइत्था आसुः इस से मनोरिव' विग्रहानुसार द्वितीयार्थ अभिमत है। प्रथमार्थ से आधिभौतिक मनु का स्पष्टीकरण हुआ है द्वितीयार्थ से आध्यात्मिक मनुयुक्त आधिदैविक मनु का स्पष्टीकरण हुआ है। हृदयावच्छिन्न उक्थ भाव मनु है परिच्छिन्न अर्क भाव (रश्मिभाव) प्राणाग्नि है। उक्थार्क का चूंकि स्थान भेद से पार्थक्य है अतएव मनु का पृथक् तथा अग्नि का पृथक् तत्त्व मान लिया गया है। एवं इसी दृष्टि से मनोरिव' का समन्वय हो जाता है। तत्त्वतः उक्थार्क अभिन्न हैं। इस दृष्टि से उक्थ मनु और अर्क अग्नि दोनों अभिन्न हैं। इसी आधार पर—"एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये" (मनुः १२।१२३) यह कहा जाता है। हृदयावच्छिन्न उक्थलक्षण मनु से युक्त तदर्करूप अतएव तदभिन्न अतएव तद्रूप प्राणाग्नि ही यज्ञ स्वरूप सम्पादक है मनुष्वत्' का यही तात्पर्यार्थ है ॥ ७ ॥

मन्त्र का अन्तिम भाग भरतवत्' है। इतः प्रदाना ह्येते (देवा उपजीवन्ति) (ऐ० ब्रा० २।१।८) इत्यादि ऐतरेय श्रुति के अनुसार प्रजापत्यात्मक सम्वत्सर मण्डल में प्रतिष्ठित और त्रिम्न देवताओं का जो प्रवर्ग्य भाग पार्थिव रूप में विस्रस्त (नष्ट) होता रहता है पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि नामक प्राणाग्नि द्वारा वह विस्रस्त भाग यहाँ से जा कर उस विस्रस्त भाग की पूर्ति किया करता है। "इम एव उपावसन् त्रिवृत्प्रान्तायनम् पार्थिवाङ्गिरसो यन्तु" इत्यादि मन्त्र वर्णन के अनुसार भूलोक से निकल कर द्युलोक की ओर जाता हुआ अङ्गिरोऽग्नि ही देवउपजीवन का कारण बनता है। अमुत प्रदानादेवैते सब पुष्यन्ति (ऐ० ब्रा० २।१।९।) के अनुसार वहां से (द्युलोक से) देवप्राण का प्रवर्ग्यरूप से निरन्तर आगमन होता रहता है इसी से प्रजा स्वरूप निर्माण होता है। एवं पूरक

नानुसार अङ्गिरा द्वारा पार्थिव प्रकर्ष भाव कहा जाता भी रहता है। इसी कारण से भव-भवात्मक आदान-प्रदान प्रक्रिया का नाम 'यज्ञ' है। इस प्राकृतिक यज्ञ से द्युलोकस्थ देवताओं के लिए पार्थिव हविर्द्रव्य का देवाना एकमात्र पार्थिव अग्नि पर ही अवलम्बित है। इसी लिए इन्हें—'एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति' निर्वचन से 'भरत' कहना अन्वर्थ बनता है। भूपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाले हविर्द्रव्य (प्राकृतिकद्रव्य) से पार्थिव प्रजा का स्वरूप-निर्माण हुआ है। इस पार्थिव प्रजा में भौम प्रकर्ष अग्नि प्रतिष्ठित रहता है जिसे 'पिप्पलादोपनिषद्' की परिभाषा में 'प्राणाग्नि' भी कहा जाता है। प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे (शरीरे) जाग्रति' (प्रश्नोपनिषद् ४।३।) के अनुसार अपान, समान व्यान उदान, प्राण, भेद भिन्न पञ्चधा विभक्त प्राणाग्नि ही इस शरीर-संस्था (अध्यात्मसंस्था) में सदा जागते रहते हैं। इस प्राणाग्नि के द्वारा ही प्रजा का भरण-पोषण होता है। जिस दिन प्राणाग्नि शरीर से उत्क्रान्त हो जाता है अध्यात्म-संस्था अहरहर्यज्ञ (वैश्वानरयज्ञ) बन्द हो जाता है तत्काल सूक्ष्मात्मा उत्क्रान्त हो जाता है। इस अध्यात्म संस्था की दृष्टि से भी 'वैश्वानर' नामक इस अग्नि को 'भरत' कहना अन्वर्थ बनता है। जिस युग (देवयुग) में इसी पृथिवी पर भौम-देवसंस्था थी उस युग में जैसे सोम-स्वर्ग के सम्बन्धोपात्त (अधिष्ठाता अधिपति) देवता इन्द्र थे, अन्तरिक्ष के सम्बन्धोपात्त वायु थे, एवमेव स्वयम्भू मनु सम्राट् के शासित इस पृथिवी के सम्बन्धोपात्त अग्नि देवता थे। पार्थिव प्रजा से 'अन्न' ग्रहण कर, देवताओं के प्रति उसे पहुँचाना, पार्थिव प्रजा की वामदेवादि के सहयोग से भरण-पोषण व्यवस्था करना इसी भौम अग्नि देवता (मनुष्यदेवता) का कार्य था। इस आधिभौतिक (ऐतिहासिक) दृष्टि से भी अग्नि को 'भरत' कहना अन्वर्थ बनता है। इसी भरण-पोषण कर्म से ये अग्नि भरत, किंवा 'भारत' कहलाए हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से यह पवित्र देश 'भारतवर्ष' कहलाता है। जिस प्रकार उक्त तीनों यज्ञ-संस्थाओं का सञ्चालन भरताग्नि से हुआ है एवमेव हमारे इस वैध यज्ञ की इतिकर्तव्यता भी उसी भरताग्नि से सम्पन्न हो, इसी भावना के लिए 'भरतवत्' कहा गया है ॥ ८ ॥

— २ —

३—आर्षेयप्रवरणकर्म्मोपपत्तिः

'अग्निर्देवो दैव्यो होता' इत्यादि मन्त्रपाठ द्वारा अपने इस वैध यज्ञ में प्राकृतिक दिव्य प्राणाग्नि की भावना करना, एवं अग्नि का होतृत्वेन वरण करना है जिस का ४ से ८ वीं कण्डिका पर्य्यन्त ५ कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है। अब क्रमप्राप्त आर्षेय प्रवरण कर्म्म की उपपत्ति का दिग्दर्शन कराया जाता है। यज्ञकर्त्ता यजमान के वंशगौरव का कीर्त्तन ही 'आर्षेयप्रवरकर्म्म' है। इस वरण से यज्ञाधिकार योग्यता का ही समर्थन हुआ है। यज्ञकर्म लौकिक कर्म्म नहीं है अपितु वैदिक दिव्य-कर्म्म है। लौकिक कर्म्म का अधिकार जहां मनुष्यमात्र को है वहां वैदिक यज्ञ-तपः-दान-कर्म्मत्रयी का अधिकार एकमात्र द्विजाति प्रजा को ही है जिनके वीर्य्य में क्रमशः सूर्य्यप्राण, तथा देवप्राण प्रतिष्ठित रहता है। यह वैध वैदिक-यज्ञकर्म्म प्राकृतिक नित्य दिव्य यज्ञ की विधि पर वितत होता है, जैसा कि अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है। प्राकृतिक यज्ञ सम्वत्सरयज्ञ है, जैसा कि इसी ब्राह्मण की १६ वीं कण्डिका में स्पष्ट होने वाला है। सम्वत्सरयज्ञ का 'अदितिमण्डल' से सम्बन्ध है। इस अदितिमण्डल के गर्भ में त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्ना अग्निप्रधाना पृथिवी पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न वायुप्रधान अन्तरिक्ष एकविंशस्तोमावच्छिन्न इन्द्रप्रधान द्युलोक ये तीनों त्रैलोक्य प्रतिष्ठित हैं जैसा कि— "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः" (ऋक् सं० १।८९।१० ।) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। अदितिगर्भ में प्रतिष्ठित अग्निप्रमुख पार्थिव ८ वसुदेवता वायुप्रमुख आन्तरिक्ष्य ११ रुद्रदेवता इन्द्रप्रमुख दिव्य १२ आदित्य देवता नासत्य-दस्र नामक २ अश्विन देवता सम्भूय ३३ प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। ये ही ३३ देवता अदितिगर्भावच्छिन्न सम्वत्सरयज्ञ के स्वरूप सम्पादक हैं। अतएव— "येषां त्रयस्त्रिंशद् मनोर्देवा यज्ञियासः" (ऋक् सं० ८।३०।२) इत्यादि श्रुति के अनुसार ये ही देवता यज्ञिय देवता कहलाए हैं। इस सम्वत्सरयज्ञ में प्रातःकाल, मध्याह्न सायङ्काल भेद से तीन सवन हैं। वसुदेवतानुगत प्रातःकाल प्रातःसवन है रुद्रदेवतानुगत मध्याह्न माध्यन्दिनसवन है एवं आदित्यदेवतानुगत सायङ्काल सायंसवन है। त्रिभिरवच्छिन्न एतत्प्राण इस सवनत्रयात्मक सम्वत्सर यज्ञमण्डल की सीमा से बहिर्भूत है। मानवप्रजा में से जिनके वीर्य्य में क्रमशः प्रातःसवनीय देवता प्रतिष्ठित रहते हैं वह ब्राह्मण है। जिनके वीर्य्य में माध्यन्दि-

स्वनीय देवता प्रतिष्ठित रहते हैं, वह आत्मा क्षत्रिय है। एवं [illegible] आत्मा वैश्य है। रश्मिगत पूषाप्राण प्रवाह प्रवाहर्ग्य शूद्र है। [illegible] पूषाप्राण से सम्बन्ध है। इस प्रकार प्रकृत्या ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य यह द्विजाति वर्ण तो यज्ञसीमा के अन्तर्गत है। एवं स्त्री तथा शूद्र दोनों प्रकृत्या यज्ञसीमा से बहिष्कृत है। इसी आधार पर भगवान् व्यास का—'स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा' यह वैज्ञानिक सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्राकृतिक, नित्य, अपौरुषेय-तत्त्वात्मक वेद की प्रतिकृति रूप वेदशास्त्र एवं तत्त्वात्मक वेद पर प्रतिष्ठित [illegible] की प्रतिकृति रूप वैदिक यज्ञकर्म दोनों का एकमात्र द्विजाति मनुष्यप्रजा को ही अधिकार क्यों है ?, इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

यदि कोई व्यक्ति कर्मणा वर्णाभिमान रखता हुआ यज्ञ में प्रवृत्त होना चाहता है जैसी कि उच्छृङ्खलता आजकल देखी सुनी जाती है तो यह उस का व्यामोह है। [illegible] विकार चेष्टा ही नहीं है अपितु अभ्युदय के स्थान में सर्वनाश का आमन्त्रण है। यज्ञ कर्म में वही दीक्षित हो सकता है जो जन्मना द्विजाति है जिन के पिता पितामह प्रपितामहादि जन्मना द्विजाति हैं जिस के वीर्य में उक्त [illegible] वर्णानुगत वेदत्रय के साथ साथ गोत्रप्रवरप्रवर्तक ऋषिप्राण का परम्परया समावेश है। ऐसा ऋषिनिष्ठ, अतएव 'आर्षेय' कहलाने योग्य देवप्राणयुक्त आत्मा द्विजाति ही यज्ञ में अधिकृत है। एवं हमारा प्रस्तुत 'आर्षेयवरणकर्म' इसी अधिकार मर्यादा का [illegible] कर रहा है। यजमान आत्मा द्विजाति है, इस का ऋषिवंश से सम्बन्ध है, [illegible] हो जाना अनिवार्य है। बिना ऋषि तथा देवप्राण-सम्बन्ध के यजमान यज्ञ में अनधिकृत है। अतएव दिव्य होतृवरणकर्म के अनन्तर, तथा मानुष होतृवरणकर्म से पूर्व यजमान के इन दोनों जाति धर्मों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। एकमात्र इसी उद्देश से 'आर्षेय प्रवरण' कर्म विहित है। जो महानुभाव शास्त्ररहस्यानभिज्ञता से कर्मणा जाति की व्यवस्था करते हुए परम्परया मनुष्यमात्र को यज्ञ का अधिकारी बनाते हुए उनका अनिष्ट कर रहे हैं हम उनसे पूछते हैं कि वे आर्षेयवरण में किन गोत्र ऋषियों का उच्चारण करावेंगे ? जब कि जन्मना शूद्र ऋषिगोत्र से सर्वथा बहिर्भूत है। उस समय वे—'ऋषिभ्यश्चैनमेतद्देवेभ्यश्च निह्नुते' इस श्रुति का कैसे समन्वय करेंगे ? यह उन्हीं महामनों से पूछना चाहिए।

ऋषि तथा देवप्राण दोनों का वीर्य्य से सम्बन्ध है न कि जन्म से। अन्यत ऋषि एवं देवप्राण का सम्बन्ध वीर्य्य में रहना चाहिए। वही द्विजाति है, वही यज्ञाधिकारी है। इस जन्मानुगत वीर्य्यभाव (जातिभाव) का स्पष्टीकरण करने के लिए ही कहा गया है— 'अथ महावीर्य्या यो ब्रह्म प्रापत्'। इसी वीर्य्यस्थापनद्वारा यजमान का यज्ञाधिकारत्व स्पष्ट करने के लिए आर्षेयवरण होता है। एवं यही इस कर्म की प्रथम उपपत्ति है— 'तस्मादार्षेयं प्रवृणीते' ॥ ६ ॥

उपपत्त्यनन्तर क्रम-जिज्ञासा बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, सृष्टिक्रम के अनुसार से पितामह पिता पुत्र इस क्रम से ही ऋषिवंश-परम्परा का उल्लेख होना चाहिए। इस सृष्टिसम्बन्ध के सम्बन्ध के अतिरिक्त स्वयं यज्ञकर्म की दृष्टि से भी 'परस्तात् अर्वाक्' ही वरण होना चाहिए। देवात्मलक्षणा दिव्यप्राणोत्पत्ति ही यज्ञकर्म का प्रधान लक्ष्य है। एवं उत्पत्ति क्रम में पितामह-पिता-पुत्र रूप यही क्रम है। अतः इस प्राणोत्पादक यज्ञकर्म में भी आर्षेयवरण करते समय पहिले यजमान के पितामह का, अनन्तर पिता का सर्वान्त में पुत्रस्थानीय यजमान का नामोल्लेख करना आवश्यक तथा क्रमसङ्गत है— 'तस्मात् परस्तादर्वाक् प्रवृणीते' ॥ १ ॥

— ३ —

४—अग्नि ब्राह्मणानुग्रहप्राप्तिकर्म्मोपपत्ति—

ऋषिवंश प्रसूत तथा जन्मना द्विजाति यह यजमान यज्ञ का अधिकारी अवश्य है परन्तु इस का यह अधिकार तबतक कार्य्यरूप में परिणत नहीं हो सकता जबतक कि इस के इस यज्ञमण्डल में आहवनीयाग्निकुण्ड में दिव्य प्राणदेवताओं का सम्बन्ध न हो जाय। यह देवाह्वान कर्म पञ्चभूत ब्रह्मवीर्य्य प्रवर्त्तक ब्राह्माग्नि तथा तद्वीर्य्यप्रधान ऋत्विग् ब्राह्मणों के अनुग्रह सहयोग पर ही निर्भर है। दिव्याग्निवरण से अग्नि देवता यज्ञमण्डल में पधार अवश्य जाते हैं परन्तु प्रकृति के नियत सूत्र के आधार पर इन का देवाह्वान कर्म तो वैज्ञानिक, अनूचान उन ब्राह्मणों के सहयोग पर ही अवलम्बित है जो उन परोक्ष प्राकृतिक सूत्र रूप आधार का मन्त्रात्मक स्तोम-शस्त्र-ग्रह आदि कर्म्मों के द्वारा ग्रहण करने की शक्ति रखते हैं। 'अग्निर्ह्यो देवो होता' इत्यादि पूर्वोक्त निगद मन्त्र से आगत अग्नि का होतृत्वेन वरण कर लिया यज्ञारम्भोक्ता यजमान ने

ब्रह्मवासन व्रतग्रहण आर्षेयवरण से इसे यज्ञाधिकारी भी सिद्ध कर दिया गया। अब आगत, तथा इस अग्नि के देवहविर्वहन अनुग्रह की तथा [illegible] के अनुग्रह की अपेक्षा है। इसी उपयोगिता सिद्धि के लिए आर्षेयवरणानन्तर/ [illegible] मानुषहोतृवरण से पहिले— 'अग्ने महाँ असि, ब्राह्मण भारत' इत्यादि मन्त्र का पाठ किया जाता है जिस का यथार्थ मूलानुवाद से स्पष्ट है ॥ ११,१२॥

— ४ —

५—मानुषहोतृवरणोपपत्ति—

प्राणविध तत्त्वान्तरसन्त में होता अध्वर्यु उद्गाता ब्रह्मा यजमान आदि सब प्राणविध ही हैं। इन प्राणविध प्राकृतिक यज्ञ की विधा पर वितायमान इस आधिदैविक मानुष यज्ञ में ऋत्विक् यजमानादि तत्प्रतिनिधिरूप भी प्राणविध ही हैं। द्यावा-पृथिव्य प्राणात्मक तत्त्वान्तर प्रजापति (यजमान) के अनुरूप अपनी पत्नी के सहयोग से पृथिवीरूप बना हुआ एवं स्वस्वरूप से द्युस्थानीय बना हुआ यजमान प्राणविध यजमान है। प्राणविध अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा इन होता अध्वर्यु उद्गाता ब्रह्मा नामक ऋत्विजों के अनुरूप प्राणविध अग्न्यनुगृहीत ऋग्वेद का ज्ञाता ब्राह्मण 'होता' है। प्राणी वाय्वनुगृहीत यजुर्वेद का अध्येता ब्राह्मण अध्वर्यु है। प्राणी० आदित्यानुगृहीत सामवेद का अध्येता ब्राह्मण उद्गाता है। एवं प्राणविध चन्द्रमानुगृहीत अथर्ववेद का तथा अथर्वसंहिता प्रयोविद्या का परिज्ञाता ब्राह्मण ब्रह्मा है। जो ऋग्वेदी ब्राह्मण यहां होतृ-कर्म के लिए नियत हुआ है, प्राणाग्नि सम्बन्धानुसार उसका वरण होना भी आवश्यक है। इस वरणकर्म से पहिले वह ब्राह्मण अहोता है अभी वह देवयजन-कर्म में अनधिकृत है। इस अधिकार प्रदान के लिए ही अधिकारप्रदानरूप नीच वरण किया जाता है। इस प्रकार ब्रह्मवासन, व्रतग्रहण, दिग्विभाजन, आर्षेय वरण अग्नि-आमन्त्रणानुग्रह [illegible] इन कर्मों के क्रमानुष्ठान के अनन्तर वह अध्वर्यु — 'असौ मानुषः' —इस निगद मन्त्र का पाठ करता हुआ होतृ कर्म के लिए आगत मानुष होता का वरण करता है। यही प्राकृतिक होता (अग्नि) का प्रतिनिधि है ॥ १३ ॥

— ५ —

६—स्वस्त्ययनमन्त्रोपपत्ति—

अध्वर्युप्रयुक्त 'अग्ने मानुष' इस निगद मन्त्र से होतृ-कर्म के लिए वृत होता आज वास्तव में होता बन गया है। इसी क्षण से इस पर उन सम्पूर्ण उत्तरदायित्व का भार आ गया है जो होतृकर्म से सम्बन्ध रखता है। अपने इसी उत्तरदायित्व को सफल बनाने की कामना से होता 'स्वस्त्ययनमन्त्र' करता है जिस का एकमात्र तात्पर्य यही है कि प्राकृतिक सम्वत्सरयज्ञ के सञ्चालक जिन प्राणदेवताओं के अनुग्रह से मनुष्य अपने गार्हस्थ्य कर्मों में सफलता प्राप्त करने में समर्थ होते हैं उन प्राणदेवताओं का मन्त्र-शक्ति द्वारा अनुग्रह प्राप्त करना। जिस प्रकार लोकाधिकारारूढ अधिकारी अधिकार प्राप्त होते ही अधिकारसिद्ध कर्मों को अपने लक्ष्य में ले आता है ठीक उसी प्रकार वरण कर्म से होत्राधिकार प्राप्त करते ही होता उन प्राणदेवताओं की ओर अनुगत हो जाता है जिन का इसे भविष्य में आह्वान करना है। प्रत्येक कार्य में नियुक्त होने से पहिले यह आवश्यक है कि उस कार्य की सम्पूर्ण रूपरेखा का चित्रण अपने अन्तर्जगत् में व्यवस्थित कर लिया जाय। ऐसा करने से भविष्य में त्रुटि होने की सम्भावना नहीं रहती। जो व्यक्ति बिना अधिकारमर्यादा कर्ममर्यादा का निरूपण किए इतस्ततः कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं अवश्य ही अपने स्वाभाविक अज्ञभाव से वे गल्ती कर बैठते हैं। जिन देवताओं का आह्वान करना है जिनके लिए वषट्कार करना है जिन के लिए हविप्रदान करना है उन सब प्राणदेवताओं के उन सब कर्मकलापों को वरणानन्तर ही लक्ष्य में ले आने के लिए स्वस्त्ययनवाक्-कर्म विहित है। यही इस कर्म की माध्यन्दिनीति-सम्मत संक्षिप्त उपपत्ति है जिस का १४ वीं कण्डिका में स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १४ ॥

१५वीं कण्डिका से आरम्भ कर २६वीं कण्डिकापर्यन्त (ब्रह्मकर्मसमाप्तिपर्यन्त) स्वस्त्ययन कर्म से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्रों की सोपपत्तिक व्याख्या हुई है। उसी का क्रमशः दिग्दर्शन कराया जाता है। सर्वप्रथम वृत होता— *त्वत्ता देवविद् भव* यह मन्त्र बोलता है। इस के द्वारा होता सविता की ही अनुज्ञा प्राप्त करता है। यह ठीक है कि मन्त्रशक्तिद्वारा पार्थिव होता अग्नि का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ यह मनुष्य होता उन प्राणदेवताओं के आह्वान में समर्थ हो जाता है। परन्तु इस आह्वान कर्म की मूल

प्रतिष्ठा सविता देवता ही है। सौरमण्डल को अपने गर्भ में रखने वाले [illegible] ... मही के चारों ओर बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, [illegible] सविता, आदि [illegible] उसी प्रकार परिक्रमा लगा रहे हैं जैसे पृथिव्यादि उपग्रह सूर्यपिण्ड के चारों ओर। इन पारमेष्ठ्य उपग्रहों में से 'सविता' नामक उपग्रह का मुख्य कर्म है—[illegible] प्रदान करना। सौर त्रिलोकी में जितने प्राण देवताओं के जो भी कर्म हैं उन सब का प्रेरक यही सविता प्राण है। अतएव इसे देवताओं का प्रसविता (प्रेरयिता) कहा जाता है। इस पारमेष्ठ्य सविता की प्रेरणा का सर्वप्रथम सूर्य में आगमन होता है अतएव सूर्य को भी कभी कभी 'सविता' नाम से व्यवहृत कर दिया गया है। सूर्यद्वारा ही सौर त्रिलोकी में प्रतिष्ठित प्रजा में सवितृप्राण के प्रेरणा तत्त्व का आगमन होता है जिस का आधार है—'बुद्धियोग'। सविता का बृहस्पति से सम्बन्ध है। क्योंकि—'बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः' इस नियम के अनुसार सूर्य से पूर्व लोकों में मर्यादा में बृहस्पति प्रतिष्ठित है उत्तरलोकों में पर्यारम्भ में इन्द्र (सौर मघवा) प्रतिष्ठित है। इन्द्र से ऊपर बृहस्पति * है तदुपरि ब्रह्मणस्पति है एवं इसके ऊपर सविता है। सविता प्राण का (अर्केरूप से) आगमन पवित्रधर्मा ब्रह्मणस्पति तथा [illegible] बृहस्पति इन दोनों पारमेष्ठ्य उपग्रहों से समन्वित हो कर ही (सौर [illegible] में) होता है। वागधिपति बृहस्पति ही अपने 'वाक्' नामक 'ज्ञान' कर्म के द्वारा बुद्धि में उस ब्रह्मवीर्य का आधान करते हैं जो ब्रह्मवीर्य सवितृप्राणात्मिका प्रेरणा के आत्म ज्ञानविकास का प्रवर्तक बनता है। इसी सम्बन्ध से सविता को 'धी' का प्रवर्तक माना गया है जैसा कि—'तत्सवितुर्वरेण्यं धियो यो नः प्रचोदयात्' इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। तात्पर्य यही है कि मानव प्राणदेवताओं का सत्कर्म में प्रवृत्त होना सवितृप्राण के प्रेरणा बल पर ही अवलम्बित है। जब तक यह होता अपने आध्यात्मिक सवितृप्राण में आधिदैविक सवितृप्राण का बल प्राप्त नहीं कर लेता तब तक अध्यात्म-स्थानुगत आधिदैविक प्राणस्वरूपलक्षण इन सत्कर्म में यह आधिदैविक प्राणदेवताओं का अनुग्रह प्राप्त नहीं कर सकता। इसी सवितृप्राणानुग्रह प्राप्ति के लिए सब से पहिले

---

* यह बृहस्पति सर्वत्र भी उपग्रह भूत बृहस्पति से भिन्न है।

इसे मन्त्र द्वारा यही भावना करनी पड़ती है कि,— हे सविता देवता! देवाह्वान सहित होमकर्म के लिए सर्व प्राणी से अभ्यनुज्ञा लोग वस्तुतः आप का ही वरण कर रहे हैं'।

इस प्रकार सर्वप्रथम सविता का अनुग्रह प्राप्त कर अनन्तर—'अग्नि होतारं' इस मन्त्र से अग्नि तथा अग्निमय ३३ यज्ञिय देवताओं का अनुग्रह प्राप्त करता है। होम कर्म का उत्तरदायित्व अग्नि पर ही है यह अनकथा स्पष्ट किया जा चुका है। साथ ही—'अग्नये सर्वेभ्यो देवेभ्यश्च' इत्यादि कण्डिकाओं का स्पष्टीकरण भी पृथ से ज्ञातव्य है—(देखिए प्रथम अ० ४ कण्डिका) ॥ १५ ॥

आधिभौतिक साधनों के द्वारा आध्यात्मिक यज्ञ का जिस आधिदैविक यज्ञ से सम्बन्ध अपेक्षित है वह 'संवत्सर' नाम से प्रसिद्ध है। संवत्सर यज्ञ ही सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा इत्यादि के अनुसार चतुर्दशभूतसर्गात्मिका प्रजा का जनक पिता (उत्पादक) है। संवत्सर का प्रवर्ग्य रेतो भाग पार्थिव योनि में आहुत होता है। इसी द्यावा-पृथिव्यात्मक के दाम्पत्य से प्रजोत्पत्ति हुई है। अतः अवश्य ही संवत्सर को 'पिता' कहा जा सकता है। दक्षिणस्थ ऋत अग्नि तथा उत्तरस्थ ऋत सोम दोनों के उद्याम निग्राम से 'ऋतु' का स्वरूप निष्पन्न होता है। ऋतु समष्टि ही संवत्सर है। प्रत्येक वस्तु स्वानुरूप ऋतु भाग को लेकर ही प्रादुर्भूत होती है। इस दृष्टि से भी ऋतुसमष्टि रूप संवत्सर को 'पिता' कहा जा सकता है जो कि संवत्सर अपने तीन लवनों से 'वैश्वानर' बन रहा है। भूपिण्ड के आदित्यपृष्ठ से सम्बन्ध त्रिवृत्स्तोम प्रातःसवन है यही स्तोमत्रिवृत्कीर्ण संवत्सर का पृथिवीलोक है यही पहिला विश्व है इसी में प्रता-पप्रारम्भ अग्नि (अग्नि) नामक नर (नायक) प्रतिष्ठित है। त्रिवृत् पृष्ठ से सम्बद्ध पञ्चदशस्तोम माध्यन्दिन सवन है यही संवत्सर का अन्तरिक्ष लोक है यही दूसरा विश्व है इसी में सम्भारप्रधान अग्नि (वायु) नामक नर' प्रतिष्ठित है। पञ्चदश पृष्ठ से सम्बद्ध एकविंशस्तोम सायंसवन है यही संवत्सर का द्युलोक है, यही तीसरा विश्व है इसी में दिग्भागप्रधान अग्नि (आदित्य) नामक नर' प्रतिष्ठित है। संवत्सर के त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश स्थानीय पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ नामक तीन विश्वों के अग्नि-वायु आदित्य नामक तीनों नरों के पारस्परिक यज्ञ सम्बन्ध से संवत्सर त्रिलोकी में व्याप्त विराट् हिरण्यगर्भ सर्वज्ञ नामक तीन अपूर्व भावों का उदय होता है। त्रिवृदग्नि में

पञ्चदश वायु एकविंश आदित्य दोनों की आहुति से अग्निप्रधान त्रिमूर्ति जिस आत्मा का जन्म होता है, वही 'विराट्' है। पञ्चदश वायु में त्रिवृदग्नि, एकविंश आदित्य, दोनों की आहुति से उत्पन्न वायुप्रधान त्रिमूर्ति तत्त्व ही 'हिरण्यगर्भ' है। एकविंश आदित्य में त्रिवृदग्नि पञ्चदश वायु, दोनों की आहुति से उत्पन्न आदित्य प्रधान त्रिमूर्तितत्त्व ही 'सर्वज्ञ' है। तीनों के अग्नि-वायु-आदित्य-प्राधान्य सूचित करने के लिए जहां विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ ये तीन पृथक् पृथक् नाम हैं, वहां तीनों का समष्ट्यात्मक एक नाम 'वैश्वानर' है। 'विश्वेभ्यो नरेभ्यो जातो वैश्वानरः' इस निर्वचन से तीनों त्रिमूर्तियों का वैश्वानरत्व यथार्थ है। अतएव विराट् हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्ति सम्वत्सर को श्रुति ने—सम्वत्सरो वै पिता वैश्वानरः कह दिया है। यह हमारा वही वैश्वानर प्रजापति सम्वत्सर है। केवल अग्नि के अनुग्रह से ऐसा सम्भव नहीं है। अपितु यह अग्नि का वह व्यापक स्वरूप अपेक्षित है जो सम्वत्सर रूप से पिता वैश्वानर रूप से त्रैलोक्य में व्याप्त है। इसी भावना के लिए—'अग्नि होतारं हव पिता वैश्वानरेण' इस मन्त्र का जप किया जाता है।

पृथिवी	अन्तरिक्षम्	द्यौ
त्रिवृत्	पञ्चदश	एकविंश
(९)	(१५)	(२१)
प्रातःसवनम्	माध्यन्दिन सवनम्	सायंसवनम्
वस्वग्निः	रुद्राग्निः	विश्वाग्नि
(अग्नि)	(वायुः)	(आदित्यः)

१	अग्नि वायु आदित्यः	अग्निप्रधानत्रिमूर्तिर्विराट्—वैश्वानरः	सम्वत्सरो वैश्वानर
२	वायु अग्नि आदित्यः	वायुप्रधानत्रिमूर्तिर्हिरण्यगर्भ—वैश्वानर	
३	आदित्य अग्नि वायु	आदित्यप्रधानत्रिमूर्ति सर्वज्ञ—वैश्वानर.	

स्वस्त्ययनात्मक मन्त्र का भगला भाग है —"अग्ने ! पूषन् ! बृहस्पते ! प्र च व प्र च यज"। अनुवचन, और यजन कर्मों में पार्थिव अग्नि, पार्थिव भूत, एवं वाक् ये तीनों साधन अपेक्षित हैं। पार्थिव भूतभाग यजन कर्म का अनुगामी है वाग्भाग अनुवचन कर्म का अनुगामी है। जिस अग्नि का वरण किया जाता है वह द्यावापृथिवी में व्याप्त वैश्वानर लक्षण प्राणाग्नि था, एवं प्रस्तुत मन्त्र में पठित अग्नि भूपिण्डात्मा पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाला भूताग्नि है। इस भूताग्नि का पोषण जिस पार्थिव प्राण से होता है वह 'पूषा' नाम से प्रसिद्ध है। सूक्ष्मस्थूलभेदात्मक अदम्भक पूषा प्राण, रयवी-नमनात्मक पूषाप्राण, भास्वरलक्षण पूषाप्राण तीनों में से प्रकृतमन्त्र के 'पूषा' शब्द से अदम्भक पार्थिव पूषाप्राण ही अभिप्रेत है। वाक्-गौ-द्यौ, ये तीन पृथिवी के मनोता माने गए हैं। इन तीनों में पार्थिवी वाक् का बृहस्पति से सम्बन्ध है जिस बाहस्पत्य वाक् से पार्थिव वषट्कार का स्वरूप निर्माण होता है। पार्थिवी गौ का अग्नि से सम्बन्ध है, जिस से—'गौर्वा अग्निहोत्रम्' के अनुसार पार्थिव अग्निहोत्र यज्ञ सम्पन्न होता है। एवं पार्थिव द्यौ मनोता का पूषा से सम्बन्ध है। इन तीनों पार्थिव तत्वों के समन्वय से ही पार्थिव यज्ञ के याज्या, तथा अनुवाक्या कर्म सम्पन्न होते हैं। मन्त्र द्वारा उन्हीं तीनों का सम्बन्ध किया जाता है ॥ १६ ॥

स्वस्त्ययन करमन्त्र का भगला भाग है—"वसूनां रातौ स्याम, रुद्राणामुर्व्यायां, स्वादित्या अदितय स्यामानेहसः। पार्थिवयज्ञ के पाकयज्ञ वितानयज्ञ भद से दो विवर्त हैं। स्मार्तयज्ञ पाकयज्ञ है। और श्रौताग्नियज्ञ वितानयज्ञ है। पार्थिव गार्हपत्याग्नि का वसुदेवता से आन्तरिक्ष्य धिष्ण्याग्नि का रुद्रदेवता से तथा दिव्य आहवनीयाग्नि का आदित्य देवता से सम्बन्ध है। देवत्रयी से अनुगृहीत अग्नित्रयी का वितान (पृथिवी से ग्रहलोक पर्यन्त फैलाव) ही वितानयज्ञ है। इन तीनों गणदेवताओं के सम्बन्ध से प्राकृतिक वितान यज्ञ की सम्पत्ति का सम्बन्ध हो जाता है। प्रकृत मन्त्र में उसी वितानसम्पत्ति का सम्बन्ध किया जाता है। पार्थिव अन्नसम्पत्ति, पशुसम्पत्ति, तथा द्रव्यसम्पत्ति, तीनों की समष्टि 'राति' है। जिसे दौलत कहा जाता है उसी के लिए वेद में 'राति' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह 'राति' अन्न-पशु-द्रव्य भेद से त्रिधा विभक्त है। इन तीनों का पार्थिव वसुदेवता से सम्बन्ध है। अतएव सम्पत्ति को वसु भी

कहा जाता है। भूतात्मक पार्थिव अग्नि ही वसु है, यही पार्थिव सम्पत्ति है। इसी अभिप्राय से 'वसूनां रातौ स्याम' कहा गया है। निम्न लिखित मन्त्र इसी वसु-अग्नि के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर रहा है—

> अग्निं त मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
> अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आ भर॥
>
> —ऋक्० ५ ।१

रुद्रदेवता अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता हैं। अन्तरिक्ष उग्र है, विकराल है जैसा कि 'उर्वन्तरिक्षमन्वेमि' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। रुद्रदेवताओं की आवासभूमि यह अन्तरिक्ष भी उग्र है एवं—'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्राः' इत्यादि यजुर्मन्त्रवर्णनानुसार इस उग्र अन्तरिक्ष में रहने वाले अधिदेवता (रुद्र) भी उग्रस्वभाव-उग्र भाव से युक्त हैं। अन्न-पशु-प्रभृति पार्थिव सम्पत्तियाँ सौम्यस्वरूपा हैं। जबतक इस पार्थिव सम्पत्ति के भोक्ता में आन्तरिक्ष्य उग्र भाव (विकरालता-उग्ररूपता) नहीं आजाती तबतक पार्थिवसम्पत्ति भोग का कारण बनी रहती है। अतएव पार्थिव वसु प्राप्ति के साथ साथ ही आन्तरिक्ष्य रुद्र का उग्रभाव भी भावरूपक्रम में अपेक्षित है। 'रुद्राणामुग्रायाम्' से उसी भूमाभाव की प्राप्ति अभीप्सित है।

रुद्रनिदानात्मक अन्तरिक्ष के इस और वसुनिदानात्मक विश्वलोकमातृभिका पृथिवी है एवं उस ओर आदित्यनिदानात्मक द्युलोक है। मध्यस्थ अन्तरिक्ष की प्रतिष्ठा पृथिवी तथा द्युलोक दोनों हैं अतएव अन्तरिक्ष को उभयत (द्यावापृथिवी से) परिच्छिन्न माना गया है जैसा कि— अमुष्मुभयतः परिच्छिन्नम इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। यह सभी अवतान भानी इत्यादि (पार्थिव) प्रतिष्ठा में आरम्भपूर्वक रति [illegible] रहता हुआ क्रमशः अन्तरिक्ष में जाता हुआ अन्तरिक्ष की प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होता चला गया है [illegible] प्रतिष्ठा [illegible] की प्रतिष्ठा कहलाती है। [illegible] इसी [illegible] प्रतिष्ठा का समर्थ हुआ है। [illegible] पूर्वक वसु भूमा [illegible] प्रतिष्ठात्मक [illegible] दोनों इसी अन्तरिक्षव्यापिनी [illegible]

में प्रतिष्ठित हैं *। 'अदितये स्यामानेहसः' इस मन्त्र भाग से वर्त्मान्त में उसी देवमाता अदिति का अनुग्रह प्राप्त किया जाता है ॥ १७ ॥

स्वस्त्ययनतरमन्त्र का अगला भाग है—"जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम्"। होम कर्म की सफलता के लिए जिन जिन देवताओं का अनुग्रह अपेक्षित था, पूर्वमन्त्रभागों के बल से होता ने वह प्राप्त कर लिया। अब वह स्वयं अपने उस आध्यात्मिक वाङ्मय देवता के अनुग्रह की कामना कर रहा है, जिस की प्राप्ति से सब कुछ सफल है, एवं जिस के अभाव में सब कुछ व्यर्थ है। अनुष्ठान कर्म से सम्बन्ध रखने वाले जिन देवताओं के लिए होता अनुवाक्या करता है यदि उन मन्त्रों के उच्चारण में अक्षर-पद-वाक्य आदि का उच्चारणसौष्ठव-माधुर्य है तो यथानुरूप उच्चरित मन्त्र अपनी उदात्त-अनुदात्त-स्वरित आदि स्वरमर्यादा से, तथा गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, आदि छन्दोमर्यादा से तत्तदक्षर छन्दोमय प्राकृतिक प्राणदेवताओं से समनुस्यूत होते हुए तत्तद्देवतावाहन में समर्थ हो जाते हैं। ऐसी देवाकर्षिणी सौमनस्य-व्यवस्थिता अनुद्वेगकरी मन्त्रवाक् ही प्राणदेवताओं के लिए आकर्षण की वस्तु बनती हुई 'जुष्टा' वाक् कहलाई है। यदि मन्त्रोच्चारण में स्वर-स्खलन है, स्वरदोष है, उच्चारणदोष है, स्खलनदोष है तो इस की सन्तानधारा विच्छिन्न है। ऐसी विच्छिन्ना मन्त्रवाक् कभी देवाकर्षणकर्म में सफल नहीं हो सकती। लोक में भी सब कुछ साधन-सामग्रियों के विद्यमान रहने पर भी वक्ता अपनी उद्वेगभावात्मा अव्यवस्थित वाक् से सब कुछ व्यर्थ हो जाता है। अतएव इतर सब साधनों की अपेक्षा उस अन्तम वाक्-साधन का सौष्ठव प्रत्यक्ष रूप से अपेक्षित है, जिस के अनुग्रह से साधन प्राप्त हो जाते हैं, एवं साध्य भी समृद्ध बन जाता है। अतएव—'तदि समृद्धम् या कुरु देवेभ्योऽनुब्रवत्' इत्यादि रूप से जुष्टा-वाक् का ही यज्ञ की प्रधान समृद्धि माना गया है ॥ १८ ॥

---

* अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम।
आदित्या वसवो, रुद्रा, अश्विनौ च परन्तप।
—वाल्मीकिरामायण।

मन्त्राधीन देवता हैं अतएव मन्त्रवाक् का शोभन सर्वरूपेण अपेक्षित है। मन्त्र ब्राह्मणों के अधीन हैं, अतएव ब्राह्मणों का सत्कार भी आवश्यकरूप से अपेक्षित है। तत्त्वात्मिका वैज्ञानिकी वाक् का रहस्य जानने वाले मन्त्रवित् ब्राह्मण भूदेव हैं। इन के प्रति भी सदा अनुद्वेगकरी-सुन्दरवाक् का ही प्रयोग करना चाहिए। विशेषतः उन वैदिक यज्ञकर्म (यज्ञकर्म से उपलक्षित दान तथा दानकर्म में भी) में तो यह सावधानी रखनी ही चाहिए कि कहीं किसी भी ब्राह्मण के लिए उद्वेगकरी वाक् का प्रयोग तो नहीं हो गया। ब्राह्मण की अप्रसन्नता यजमान के विनाश के लिए पर्याप्त है एवं ब्राह्मण की प्रसन्नता यजमानरूपसमृद्धि के लिए पर्याप्त है। उन यज्ञकर्मों की मीमांसा कीजिए, जिन में यजमान लोग ब्राह्मणों का अपमान कर दिया करते हैं। उन दान कर्मों के कुफलों का अन्वेषण कीजिए जिन में मदान्ध दानदाता अपमान पुरस्सर दान करते हुए अपना सर्वनाश करा रहे हैं। उन अविवेकियों की उस कलुष वृत्ति का भी अन्वेषण करना न भूलिए जो केवल धन को ही बुद्धिमत्ता का लक्षण समझते हुए ब्राह्मणवर्ग का अपमान कर अपने भविष्य को अन्धकार तम से अभिभूत कर रहे हैं। हमारा अपना तो ऐसा आत्म विश्वास है कि, भारतवर्ष की वर्तमान दीनदशा के अन्यान्य कारणों में से ब्राह्मणकुल की दुर्गति तथा ब्राह्मणवर्ग का अपमान भी एक मुख्य कारण है। 'यदि ममृत मो बुन्द ब्राह्मणेभ्योऽनृतमवत्' इत्यादि श्रौतादेश भी इसी कारण का स्पष्टीकरण कर रहा है। 'सुशं सभ्यमः' यह मन्त्रभाग इसी ब्राह्मणानुमत्यप्राप्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है ॥ १६ ॥

अगला मन्त्रभाग है— 'सुशं नराशंसाय'। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इन चारों वर्णों में ब्राह्मणवर्ण इतर तीनों वर्णों का मूलप्रभव है ब्रह्मस्थानीय है। ब्रह्म एकाकी सृष्टि करने में असमर्थ होता हुआ अपने तप से इतर वर्णों को उत्पन्न करता है—(देखिए शत० ब्रा० १४ कां० । ४ अ० । २ ब्रा० । २३ कं० ।)। ब्रह्म सर्वादित्व है अतएव यह सृष्टिमर्यादा से सम्बन्ध रखने वाले प्रजावर्गों से बहिर्भूत है। ब्रह्ममूलक ब्राह्मणवर्ण प्रजा का (प्रजापति से) सर्वाग्रज है क्षत्रिय वैश्य-शूद्ररूप प्रजावर्ग है। इन सर्वसामान्य प्रजावर्ग के लिए ही वेदभाषा में 'नर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मण नर (मनुष्य) नहीं अपितु देवता (भूदेव) है। सामान्य प्रजावर्ग से इस का पार्थक्य यज्ञकर्म के

लिए, साथ ही इसे प्रशंसात्मक व्याख्यान के लिए पूर्व (१६) कण्डिका में—'जुष्टा यशस्या' कहा गया है। अब प्रस्तुत कण्डिका में आत्मव्यतिरिक्त सम्पूर्ण समाजगण के लिए शुभ वाक्प्रयोग का विधान हुआ है। प्रत्येक कर्म में सभी के शुभसंकल्प अपेक्षित हैं। वही कर्म समृद्ध माना गया है, जिस को देखने वाले न देखने वाले, सभी एकस्वर से साधु वाद दिया करते हैं। तात्पर्य, लोकसमृद्धि से सभी की शुभ कामनाएं अपेक्षित हैं। इस के लिए सभी के प्रति शुभवाक् का प्रयोग होना चाहिए।

अगला मन्त्रभाग है— "यन्मे होतृत्वे जिह्मं चक्षुः परापतत्, अग्निष्टत् पुनराभरा जातवेदा विचर्षणिः"। होता यद्यपि यथाशक्ति मनोदेवताओं का, सदस्य ब्राह्मणों का, समाजगण का सभी का अनुग्रह भी प्राप्त कर लेता है। मन्त्रप्रयोग भी यथाविधि ही करता है। इस प्रकार अपनी जान में वह अपने होतृकर्म में कोई त्रुटि नहीं करता। तथापि संसार में समालोचकों की कमी नहीं है। सर्वथा निर्दोष कर्मों में भी दोष-दर्शन करने वाले मिल ही जाते हैं। होसकता है—लौकिक कर्मों का इस दृष्टिदोष से कुछ न बिगड़ता हो। परन्तु वैदिक कर्म अवश्य ही इस दृष्टिदोष से विकृत हो सकता है। दृष्टिमार्गद्वारा वह कुत्सित भावना यज्ञवातावरण में यदि प्रवेश कर जाती है, तो उसी प्रकार यज्ञस्वरूप विकृत हो जाता है जैसे आगन्तुक तृणादि से स्वच्छ भी घर मलिन हो जाता है। होता का यह भी एक कर्तव्य हो जाता है कि, ऐसे दुष्ट समालोचकों की कुदृष्टि के दोष से दोषयुक्त बने हुए यज्ञकर्म को निर्दुष्ट बनाने के लिए अग्नि से प्रार्थना कर ले। हम नहीं जानते कि, किस के दृष्टिदोष से यज्ञस्वरूप विकृत हुआ। परन्तु सब कुछ जानने वाले अवश्य 'जातवेदा' नाम से प्रसिद्ध अग्नि अवश्य ही उसे जानते हैं। वे अवश्य ही हमारी भावना से प्रेरित होकर उस दृष्टिदोष को हटा कर पुनः यज्ञशक्ति का उत्थान करने की क्षमता रखते हैं॥ १ ॥

'जातवेदा विचर्षणिः' यहां तक स्वस्त्ययनकर्म करने के अनन्तर वह होता अध्वर्यु तथा आग्नीध्र नामक ऋत्विजों का स्पर्श करता है। वस्तुतः अध्वर्यु प्राणव्यापार का उद्गाता तथा होता दोनों वाग्व्यापार के एवं ब्रह्मा मनोव्यापार के प्रवर्तक माने गए हैं। परन्तु यहां स्थितिभाव को लक्ष्य बना कर श्रुति ने अध्वर्यु को 'मन' मान लिया है।

मन उत्क्रमण से हृदय में प्रतिष्ठित रहता है। 'दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इत्यादि मन्त्रद्वारा मन का जो चिद्रूप बतलाया गया है, उसको वाङ्मय तत्त्वों का ही [illegible] समझना चाहिए। कारण स्पष्ट है। मन में बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है। बुद्धि [illegible] ज्ञान ही चित् का अनुग्राहक है। जब तक मन है तब तक बुद्धि है। जब तक बुद्धि है, तब तक चित् है। जब तक चित् है, तब तक जीवनसत्ता है। अतएव मन के चिद्रूपत्व का [illegible] परिज्ञान पर ही विश्राम मानना पड़ता है। जिस प्रकार मन स्वस्थान में स्थित रहता है एवमेव अध्वर्यु का व्यापार स्वस्थान (पृथिवी) से ही सम्बन्ध रखता है। उधर होता का अनुवचन कर्म द्युलोकानुगत रहता है। इसी कारण से विद्वानों ने अध्वर्यु को मन तथा होता को वाक् मान लिया जाता है। बिना मन के वाक् [illegible] प्रतिष्ठाशून्य है। उसी मनःप्रतिष्ठाप्राप्ति के लिए यह होता मनःस्थानीय अध्वर्यु का स्पर्श करता है। मनोवाक् का परस्पर सम्मिलन ही इस स्पर्श का प्रधान फल है ॥ ११ ॥

स्पर्शकर्मानन्तर यह होता 'अग्नीषोमीयपुरस्तात्—अग्निश्च पृथिवी च, वायुश्च [illegible] अहश्च रात्रिश्च' इस मन्त्र का जप करता है। 'अग्नीषोमात्मकं' सिद्धान्त के अनुसार अहः से सम्बन्ध रखने वाला और आग्नेय तत्त्व, तथा रात्रि से सम्बन्ध रखने वाला चान्द्र सौम्य तत्त्व, ये दो ही सर्वसृष्टि के उपादान हैं। इन दो के तीन विवर्तों का ही यहाँ स्पष्टीकरण हुआ है। अहः का अग्नि से सम्बन्ध है रात्रि का पृथिवी से सम्बन्ध है। अहः का वायु से सम्बन्ध है, रात्रि का आप से सम्बन्ध है। अग्नि पृथिवी, जल तीनों प्रसिद्ध हैं। वायु प्रकृत में प्राण का वाचक है। 'एष उ एव बिभ्रद्वाजः' (ऐ. आ. १।२।१।) इस श्रुति के अनुसार मूलशरीर को धारण करने वाला विधर्ता प्राण ही वायु है। अन्नाशन द्वारा ही इस की शरीर में प्रतिष्ठा रहती है। अतएव ([illegible]) अन्न को भी वायु मान लिया जाता है। 'यथाग्निगर्भा पृथिवी' सिद्धान्तानुसार जहाँ तक पृथिवी है वहाँ तक अग्नि है। पार्थिव प्रजा के लिए सर्वत्र पृथिवी एवं तदभिन्न अग्नि की व्याप्ति है। पानी का भी कहीं अभाव नहीं है—सर्वमापोमयं जगत्। वायवात्मक प्राण भी—'प्राणस्य वशे सर्वं त्रिदिवे' के अनुसार सर्वव्यापक है। अहोरात्र की सर्वव्याप्ति तो स्पष्ट है ही। इन ६ ओं की इसी सर्वव्याप्ति

को अश्व में रखते हुए श्रुति ने इन्हें 'उर्वी' कहा है। जिस के लिए ये ६ भी पर्व अनुकूल रहते हैं वह कभी किसी भी प्रकार का भय नहीं पा सकता। होता इसी देवस्वकानुमतप्राप्ति की कामना करता है ॥ २८ ॥

स्वस्त्ययनवाचकमन्त्र समाप्ति के अनन्तर होता अपने लिए नियत 'होतृषदन' नामक आसन बैठने के स्थान की ओर लौट आता है। यहां आकर अपने दर्भासन से एक तृण निकाल कर फेंकता हुआ होता— निरस्तः परावसु मन्त्र बोलता है। जिस की उपपत्ति श्रुति ने यह बतलाई है कि परावसु नामक असुर असुरों का होता था। तृणनिष्कासन व्याज से उसी को इस देवयज्ञमण्डल से बाहिर फेंका जाता है। ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से बहुत सम्भव हो, सोम देवताओं की भांति असुरों ने भी यज्ञ किया हो एवं उनके किसी यज्ञ में 'परावसु' नामक असुर ब्राह्मण होता बना हो। परन्तु तत्त्वदृष्ट्या यह तमोमय प्राण जो कि अपने स्वाभाविक आसुरभाव से देवयज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले वसु (सम्पत्ति) को यज्ञमण्डल से पराग् करने वाला है 'परावसु' है। इसी के लिए 'सहरक्षा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि— सहरक्षा इत्यसुररक्षांसि वृत्त आस इत्यादि रूप से पूर्व के 'हिङ्काराब्राह्मण' में विस्तार से बतलाया जा चुका है। दिव्यपार्थिवाग्नि देवदेवताओं के होता हैं। इसी के लिए 'अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्' इत्यादि कहा गया है। अग्नि व अन्य वसु इत्यादि के अनुसार वसु (सम्पत्) के प्रवर्तक ये अग्नि ही 'अर्वावसु' नामक देवदेवताओं के होता हैं। दोनों ही मायात्मक रूप आन्तरिक्ष्य वायु में व्याप्त रहते हैं। इसका यज्ञमण्डल में दोनों का सम्बन्ध अनिवार्य है। दोनों में परावसु का सम्बन्ध यज्ञविघातक है। मन्त्रशक्ति द्वारा तृणनिष्कासन उस का निकाल बाहिर कर दिया जाता है एवं—'इदमहमर्वावसो सदने सीदामि' यह मन्त्र बोलता हुआ स्वयं में केवल अर्वावसु नामक दिव्याग्नि होता के सम्बन्ध को दृढमूल बनाता है। २१–२८ कण्डिकाओं में इसी उपपत्ति का स्पष्टीकरण हुआ है ॥ २१-२८ ॥

इस प्रकार होतृषदन स्थान में बैठने के अनन्तर होता बोलता है— विश्वकर्मन्तनूपा असि मा मोदोषिष्टं मा मा हिंसिष्टमेष वा भाग"। इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ होता उत्तर की ओर थोड़ा सा सरकता सा है। होतृषदन स्थान गार्हपत्य तथा आह

णीय, दोनों वायासुचित अग्नियों के मध्य में जाता है। दोनों अग्नि विहारित हैं, विशेषतः आहवनीय तो समिन्धन से आज समिद्ध रूप कर प्रदीप्त कर के प्रतिष्ठापित किया गया है। अतएव ही बिना इनकी अनुज्ञाप्राप्ति के उत्क्रमण होता का अनिष्ट हो सकता है। अतएव होता स्तुतिद्वारा इन का अनुग्रह प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

अनन्तर आहवनीयाग्नि की ओर देखता हुआ—'विमोरेणा वा[illegible]' इत्यादि मन्त्र बोलता है जिस का स्पष्टीकरण सूत्रानुसार के व्याख्यान है ॥ २६ ॥

इति—विमोचनाप्रकरणम्

इति—होतृप्रकरणभाष्यं समाप्तम्।



• ओं तत् सद् ब्रह्मणे नमः •

अथ शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये

पञ्चमाध्याये द्वितीय, चतुर्थ प्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम्

(१।५।२)—(१।४।३)

क्रमप्राप्तञ्च २१ ब्राह्मणम्

"स्रुग्व्याहरणम्"

क—निगमपाठ (पारायणपाठ —

(अथ प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये द्वितीयं चतुर्थप्रपाठके च तृतीयं ब्राह्मणम्)

अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रमिति । अग्निर्वै होता वेत्त्वित्येवैतदाहाग्नेर्होत्रमिति तस्यो हि होत्रं वेत्तु प्रावित्रमिति यज्ञो वै प्रावित्रं वेत्तु यज्ञमित्येवैतदाह साधु ते यजमान देवतेति साधु ते यजमान देवता यस्य तेऽग्निर्होतेत्येवैतदाह घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्वेति तदध्वर्युं प्रसौति स यदेकामिवाह ॥१॥

यजमान एव जुहूमनु । योऽस्मा अरातीयति स उपभृतमनु स यदद्ध इव ब्रूयाद्यजमानाय द्विषन्त

भ्रातृव्यं मत्युपा॥ग्रेनं [illegible] [illegible]मन्ताण तयमृतद्

स यद् देअय [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

तस्माद्देकाामिदेवाह ॥१॥

देवयज्ञ विश्वकारामिति । [illegible]देवामेतन्महत्

येव यदाह देवयज्ञं विश्वकारामितीकामहे देवाँ

ईडेन्यान् नमस्याम नमस्यान् यजाम यज्ञियानितीकामहे

तान् देवान्य ऽईडेन्या नमस्याम तान्वे नमस्या यजाम

यज्ञियानिति मनुष्या वा ऽईडेन्याः पितरो नमस्या

देवा यज्ञिया ॥३॥

या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्ता । [illegible] वै ता

ऽएवमेवैतद्या ऽइमा ,प्रजाऽ [illegible]तास्ता यज्ञ ऽआभ

जति मनुष्याननु पशवो देवाननु व्युपाथस्योषधयो

व्वनस्पतयो यदिदं किंचैवम् तत्सर्वं यज्ञ ऽआभक्तम् ॥४॥

ता वा ऽएता । नव व्याहृतयो भवन्ति नवैमे

पुरुषे प्राणा ऽएतानेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मान्नव व्या

हृतयो भवन्ति ॥५॥

यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम । तं देवा ऽअनुमन्त्र

यन्ता नः श्रृणूप न ऽआवर्तस्वेति सोऽस्तु तथेत्येव

देवानुपावर्तत तेनोपावृत्तेन देवा ऽअयजन्त तेनेष्ट्वेतद-
भवन्यदिदं देवा ॥६॥

स यदाश्रावयति । यथैवैतदनुमन्त्रयत ऽआ नः
शृणूप न आवर्तस्वेत्यथ यत्प्रत्याश्रावयति यथै ऽवैत-
दुपावर्ततेऽस्तु तथेति तेनोपावृत्तेन रेतसा भूतेनऽर्त्विज
सम्मदायं चरन्ति यजमानेन परोक्षं यथा गोपाश्रेण
सम्मदायं चरेयुरेवमनेनऽर्त्विज सम्मदाय चरन्ति
तद्वा चैवैतत्सम्मदाय चरन्ति ऽग्नि यज्ञो ऽग्नौ हि
रेतस्तदेतेनैवैतत्सम्मदाय चरन्ति ॥७॥

सोऽनुब्रूहीत्येवोक्त्वाध्वर्युः । नापव्याहरेन्मो ऽएव
होतापव्याहरेदाश्रावयत्यध्वर्युस्तदग्नीधं यत्र ऽउपा-
वर्तेत ॥८॥

सोऽग्नीन्नापव्याहरेत् । आ प्रत्याश्रावणात् प्रत्या-
श्रावयत्यग्नीत् तत्पुनरध्वर्युं यत्र ऽउपावर्तते ॥९॥

सोऽध्वर्युर्नापव्याहरेत् । आ यजेति व्यक्तो यजेत्ये-
वाध्वर्युर्होत्रे यज्ञं सम्प्रयच्छति ॥१०॥

स होता नापव्याहरेत् । आ वषट्कारात् तु वषट्
कारेणाग्नावेव योनौ रेतोभूतं सिञ्चत्यग्निर्वै योनि

[illegible] प्यारे ॥११॥

स वै ध्रुवं गृहीत्वाथाह । [illegible] ॥१२॥

तऽउद्गातारो नापव्याहरेयुः । ओतमाया ऽप्तो यत्रेत्युद्गातारो होत्रे यज्ञं सम्प्रयच्छन्ति ॥१३॥

स होता नापव्याहरेत् । स वषट्कारस्य तु वषट् कारेणाग्नावेव योनौ रेतोभूतं सिञ्चत्यग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य स ततः प्रजायते ॥१४॥

स यद्ध सोऽप्यव्याहरेत् । यथा [illegible] पूर्णपात्रं परासिञ्चेदेवं ह स यजमानं पशुभिर्व्यर्धयेत् स यत्र देवमृत्विजः सविदाना यज्ञेन कुर्वन्ति सर्वमेव तत्र कल्पते न मुह्यति तस्मादेवमेव यज्ञो भर्तव्यः ॥१५॥

ता वा एताः । पञ्च व्याहृतयो भवन्त्यो श्रावयास्तु श्रौषड्यज ये यजामहे वौषडिति पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चर्तवः संवत्सरस्यैषैका यज्ञस्य [illegible] मात्रेण सम्पत् ॥१६॥

तासाꣳ सप्तदशाक्षराणि । सप्तदशो वै प्रजापति प्रजापतिर्यज्ञ एषैका यज्ञस्य मात्रेण सम्पत् ॥१७॥

ओ श्रावयेति वै देवा । पुरोवातꣳ ससृजिरेऽस्तु श्रौषडित्यभ्राणि समप्लावयन्यजेति विद्युतं ये यजामह इति स्तनयित्नु वषट्कारेणैव प्रावर्षन् ॥१८॥

स यदि वृष्टिकाम स्यात् । यदीष्टया वा यजेत दर्शपूर्णमासयोर्वैव ब्रूयाद् वृष्टिकामो वा अस्मीति तत्रो ऽध्वर्यु ब्रूयात् पुरोवातञ्च विद्युतञ्च मनसा ध्याय त्वग्नीधꣳ स्तनयित्नुञ्च वर्षञ्च मनसा ध्यायेति होतारꣳ सर्वाण्येतानि मनसा ध्यायेति, ब्रह्माणं वर्षति हैव तत्र यत्रैवमृत्विज सविदाना यज्ञेन चरन्ति १९

ओ श्रावयेति वै देवा । विराजमभ्याजुहुवुरस्तु श्रौषडिति वत्समुपावासृजन्यजेत्युदनयन्ये यजामह इत्युपासीदन् वषट्कारेणैव विराजमदुहतेय वै विरा डस्यै वा एष दोह ऽएवꣳ ह वा ऽस्मा ऽइयं विराट् सर्वान् कामान् दुहे य ऽएवमेतं विराजो दोहं वेद ॥२०॥३

इति चतुर्थप्रपाठके तृतीय ब्राह्मणम् [५ २] ॥

इति पञ्चमाध्याये द्वितीयं चतुर्थप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम् (१।५।२)–१।४।३)

इति–निर्भुजपाठ (क)

ख—[illegible] ([illegible] —

"अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम्" इति । अग्निरिदं होत्र-दाह । अग्निर्होत्रमिति । यस्यो हि होत्रम् । "वेत्तु प्रावित्रम्" इति । यज्ञो वै प्रावित्रम् । वेत्तु यज्ञम्-इत्येवैतदाह । "साधु ते यजमान ! देवता" इति । साधु ते यजमान-देवता यस्य ते अग्निर्होता-इत्येवैतदाह । "घृतवतीमध्वर्यो ! स्रुचमास्यस्व" इति । तदध्वर्युं प्रसौति । स यदेवाभिवाह ॥ (१) ॥ यजमान एव जुहू-मनु, योऽस्मा अरातीयति-स उपभृतमनु । स यद् ह इव ब्रूयात्—यज-मानाय द्विषन्तं भ्रातृव्यं प्रत्युद्यामिनं कुर्यात् । यथैव जुहूमनु, नोपभृत-मनु । स यद् ह इव ब्रूयात्—अघ आत्म प्रत्युद्यामिनं कुर्यात् । तस्मादेव-मिवैवाह ॥ (२) ॥ "देवयुवं विश्ववाराम्" इति । उपस्तौत्येवैनामेतद्, महयत्येव, यदाह-"देवयुवं विश्ववाराम्" इति । "ईडामहै देवाँ ईडेन्यान्, नमस्याम नमस्यान्, यजाम यज्ञियान्" इति । ईडामहै यान् देवान्-य ईडेन्याः, नमस्याम तान्-ये नमस्याः, यजाम यज्ञियान्-इति । मनुष्या वा ईडेन्याः, पितरो नमस्याः, देवा यज्ञियाः ॥ (३)॥ ता वै प्रजा या अनन्वाभक्ताः-पराभूता वै ताः । एवमेवैष-य इमाः प्रजा अनन्वाभक्ताः—ता अत्र आभजति । मनुष्यान् अनु पशवः, देवान् अनु वयांसि—ओषधयः वनस्पतयः—यदिदं किंच, एतद् वा इदं सर्वं आभजन् ॥ (४) ॥ ता वा एता नव व्याहृतयो भवन्ति । नवेमे पुरुषे प्राणाः । प्राणानेव अस्मिन् एतद् दधाति । तस्मान्नव व्याहृतयो भवन्ति ॥ (५) ॥

१—तत्र नु गात्रमानिगदः—

यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम । तं देवा अन्वमन्त्रयन्त—"आ नः शृणु, उप न आवर्तस्व" इति । स "अस्तु तथा" इत्येव देवानुपावर्तत । तेनोपावृत्तेन देवा अय-जन्त । तेनेष्ट्वा एतद् अभवन्-यदिदं देवा ॥ (६) ॥ स यदाश्रावयति,

२—आश्रावणप्रत्याश्रावणनिगदः—

यज्ञमेवैतदनुमन्त्रयते—"आ-न भूम, उप न आवर्तस्व" इति। अथ यत् प्रत्याभावयति—यज्ञ एवैतदुपावर्तते—"अस्तु यथा" इति। तेनोपावृत्तेन रेतसा भूतेन ऋत्विजः सम्प्रदायं चरन्ति, यजमानेन परोक्षम्। यथा पूर्ण पात्रेण सम्प्रदायं चरेयुः—एवमनेन ऋत्विजः सम्प्रदायं चरन्ति। तद्यथैवैतद् सम्प्रदायं चरन्ति। वाग् हि यज्ञ, वाग् उ रेत। तदेतेनैवैतत् सम्प्रदायं चरन्ति॥ (७)॥ स 'अनुज्ञ हि' इत्येवोक्त्वा अध्वर्युर्नोपप्याहरेत्, ना एव होतापप्याहरेत्। आधावयति अध्वर्युः—तदन्तीष यज्ञ उपावर्तते॥ (८)॥ सोऽग्नीन्नापप्याहरेत्—आ प्रत्याभावणात्। प्रत्याभावयत्यग्नीत्—तत् पुनरध्वर्युं यज्ञ उपावर्तते॥ (९)॥ सोऽध्वर्युर्नापप्याहरेत्—आ 'यज' इति वक्तो। 'यज' इत्येवाध्वर्युर्होत्रे यज्ञं सम्प्रयच्छति॥ (१०)॥ स होता नापप्याहरेत्—आ वषट्कारात्। स वषट्कारेणाग्नावेव योनौ रेतो भूत सिञ्चति। अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य—स ततः प्रजायते—इति नु हविर्यज्ञे। अथ सौम्यऽध्वरे॥ (११)॥ स वै ग्रहं गृहीत्वा अध्वर्युर्नापप्याहरत्—आ उपाकरणात्। 'उपावर्तध्वम्' इत्येवाध्वर्युरुद्गातृभ्यो यज्ञं सम्प्रयच्छति॥ (१२)॥ स उद्गातारो नापप्याहरेयुः—आ उत्तमायाः। "एषोत्तमा" इत्येवोद्गातारो होत्रे यज्ञं सम्प्रयच्छन्ति॥ (१३)॥ स होता नापप्याहरेत्—आ वषट्कारात्। स वषट्कारेणाग्नावेव योनौ रेतोभूतं सिञ्चति। अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य—स ततः प्रजायते॥ (१४)॥ स यद् ह सोऽपप्याहरेत्—यः यज्ञ उपावर्तत, यथा पूर्णपात्रं परासिञ्चेत्—एव ह स यजमानं परासिञ्चेत्—एव ह स यजमानं परासिञ्चेत्। स यत्र हैवमृत्विजः सविदाना यज्ञेन चरन्ति—सर्वमेव तत्र कल्पते, न मुह्यति। तस्मादेवमेव यज्ञो मर्येत्म्य॥ (१५)॥

ता वा एताः पञ्च व्याहृतयो भवन्ति—'ओ श्रावय,' 'अस्तु श्रौषट्,' 'यज,' 'ये यजामहे,' 'वौषट्' इति। चतुरक्षरं ह वा, [illegible] एव संवत्सरस्य। एतावती वास्य मात्रा, एषा सम्पत्॥ (१६)॥ [illegible] सप्तदशाक्षराणि। सप्तदशो वै प्रजापतिः। प्रजापतिर्यज्ञः। एतावती वास्य मात्रा, एषा सम्पत्॥ (१७)॥ 'ओ श्रावय' इति वै देवाः पुरोवातं ससृजिरे। 'अस्तु श्रौषट्' इति अभ्राणि समप्लावयन्। 'यज' इति विद्युतम्। 'ये यजामहे' इति स्तनयित्नुम्। 'वषट्कारेण' च प्रावर्षयन्॥ (१८)॥ स यदि वृष्टिकामः स्यात्, यदि इष्ट्या वा यजेत्—[illegible] 'वृष्टिकामो वा अस्मि' इति। तमो अध्वर्युः ब्रूयात्—'पुरोवातं च विद्युतं च मनसा ध्याय' इति। 'अभ्राणि मनसा ध्याय' इति आग्नीध्रम्। 'स्तनयित्नुं च वर्षं च मनसा ध्याय' इति होतारम्। 'सर्वाण्येतानि मनसा ध्याय' इति ब्रह्माणम्। वर्षति हैव तत्र—यत्रैव ऋत्विजः संविदाना एवं चरन्ति॥ (१९)॥ 'ओ श्रावय' इति वै देवा [illegible]। 'अस्तु श्रौषट्' इति वत्समुपावासृजन्। 'यज' इति उदनयन्। 'ये यजामहे' इति उपासीदन्। 'वषट्कारेण' च विराजमदुह्रन्। एष वै विराट्, अस्यै त्रा एष दोहः। एवं ह वा अस्मै एषा विराट् सर्वान् कामान् दुहे—य एवमेतं विराजो दोहं वेद॥ (२०)॥

इति पञ्चमाध्याये द्वितीयं चतुर्थप्रपाठके च तृतीयं

'स्रुग्व्याख्यानं' समाप्तम्

इति–प्रतृणपाठ (ख)

ग—मूलानुवाद :—

पाँचवें अध्याय में दूसरा, चौथे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण

"स्रुग्ब्राह्मण"

१—स्रुगादापननिगद

(पूर्व के 'प्रवरब्राह्मण' में अध्वर्यु द्वारा होम वाले यजमान दिव्य अग्नि, एवं मानुष होता के वरण कर्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई गई है। अब प्रकृत 'स्रुग्ब्राह्मण' में 'स्रुगादापन' कर्म का स्पष्टीकरण किया जाता है। कहा गया है कि, अध्वर्यु द्वारा होतृत्वेन वृत 'होता' नामक ऋत्विक् अपने होम कर्म की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए स्वस्थान-होतृषदन में प्रतिष्ठित हो कर—'एतत् त्वा देव सवितर् वृणते' इत्यादि मन्त्ररूप लक्षण 'स्वस्त्ययनजप' कर्म करता है। इस कर्म के अनन्तर ही स्रुगादापन कर्म विहित है जिसकी इतिकर्त्तव्यता क्रमप्राप्त आरम्भ करती हुई श्रुति कहती है)—

(स्वस्त्ययनजप के अनन्तर होता नामक ऋत्विक्)—'अग्निर्होता वेत्त्वग्निर्होत्रम्' (प्राणाग्निरूप दिव्य होता इस अनुष्ठेय अपने होम कर्म को जाने) यह मन्त्र बोलता है। इस (अनुष्ठेय कर्म) को दिव्याग्निरूप यह होता जाने—मन्त्रभाग से यही कहा है। 'अग्निर्होत्रम्' इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि यह होम कर्म निश्चयेन अग्नि का ही है। (अनन्तर)— 'वेत्तु प्रावित्रम्' (यह दिव्याग्निरूप होता यज्ञ को जाने) यह मन्त्रभाग बोलता है। प्रावित्र निश्चयेन—(प्रकर्षेण अवति इस व्युत्पत्ति से) यज्ञ है। (इस मन्त्र भाग से) होता रक्षक यज्ञ का ज्ञान यही कहा है। (अनन्तर) 'साधु ते यजमान! देवता' (हे यजमान! जिस तुम्हारा होता दिव्य अग्नि है यह तुम्हारा देवता तुम्हारे सिद्ध-कर्मसिद्धि के लिए साधु-योग्य है) यह मन्त्रोच्चारण करता है। मन्त्र से यही कहा गया है। (अनन्तर)— 'घृतवतीमध्वर्यो! स्रुचमास्यस्व' (हे अध्वर्यु! आप घृतपूर्ण स्रुच का ग्रहण कीजिए) यह मन्त्रोच्चारण करता है। (इस मन्त्र के द्वारा होता) अध्वर्यु को (स्रुगादापन कर्म के लिए) प्रेरित करता है। जो

जो कि होता (अध्वर्यु को शत्रु-उपसत्, इन दोनों में से) [illegible] करता है, (उस की उत्पत्ति बतलाते हैं) ॥ १ ॥ यजमान ही शत्रु को क्षत्र बनाता है (एवं) जो इस (यजमान के लिए) [illegible] है, वो (यजमान का शत्रु) उपसत् को क्षत्र बनाता है (अर्थात् [illegible] यजमान की तथा उपसत् उसके शत्रु की प्रतिकृति है)। (ऐसी स्थिति में) यदि वह होता (अध्वर्यु को) दो (शत्रु-उपसत् दोनों) शत्रुओं के लिए प्रेरित करेगा, [illegible] यजमान के लिए द्वेष करने वाले शत्रु को यजमान की प्रतिस्पर्धा में खड़ा कर देगा (अर्थात् द्वेषी शत्रु को [illegible] करने वाला सिद्ध होगा अतः एक ही शत्रु के लिए प्रेरित करना उचित है)। (अब इसी की एक दूसरी उपपत्ति और बतलाते हैं)—अत्ता (भोक्ता) ही शत्रु को क्षत्र बनाता है एवं आद्य (भोग्य) उपसत् को क्षत्र बनाता है (अर्थात् शत्रु निदर्शन अत्ता की, तथा उपसत् आद्य की प्रतिकृति है)। (ऐसी स्थिति में) यदि वह होता दो शत्रुओं के लिए प्रेरित करेगा तो अत्ता के लिए आद्य को प्रतिस्पर्धी बनावेगा (अर्थात् भोक्ता भोग्य की तुलना में भोग्य को [illegible] बनावेगा। ऐसा न हो, इस लिए एक ही क्रम से (एक शत्रु के लिए) मन्त्र बोलता है ॥ २ ॥ (अनन्तर) "देवयुव विश्वावाराम्" (देवताओं के सहयोग की इच्छा रखने वाली तथा सम्पूर्ण देवताओं के [illegible] ऐसी शत्रु के लिए मैं अध्वर्यु को प्रेरित करता हूँ) यह मन्त्रोच्चारण करता है। यह होता इस शत्रु की प्रशंसा ही करता है—बढ़ावा ही देता है [illegible] "देवयुवं विश्वावाराम्" यह कहता है। (अनन्तर) "ईडामहै देवाँ ईडेन्यान्, नमस्याम नमस्यान्, यजाम यज्ञियान्" (स्तुति करने योग्य मनुष्यों की मैं स्तुति करता हूँ, नमस्कार करने योग्य पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ एवं यज्ञ में भाग लेने वाले—आहुति ग्रहण करने वाले—अतएव 'यज्ञिय' कहलाने वाले देवताओं का मैं यजन करता हूँ) यह मन्त्रोच्चारण करता है। मनुष्य निश्चयेन स्तुति करने योग्य हैं पितर नमस्य हैं, एवं देवता यज्ञिय हैं ॥ ३ ॥ जो प्रजाएं यज्ञ में भाग रहित हैं (जिनका यज्ञ में योग नहीं है), वे प्रजाएं निश्चयेन पराजित हुई हैं। इसी प्रकार (ठीक इसके विपरीत) जो प्रजाएँ अपराजित हैं, उन्हीं को यज्ञ में समाविष्ट करता है (अर्थात् प्राकृतिक यज्ञ में जिन प्रजाओं ने भाग नहीं लिया वे पराजित हुई, जिन्होंने भाग लिया, वे विजयिनी हुईं)।

प्रकृत यज्ञ में उन विभिन्नी प्रजाओं का ही समावेश किया जाता है)। मनुष्यों को लक्षित कर पशुप्रजा, देवताओं को लक्षित कर पक्षी, औषधियाँ वनस्पतियाँ, तथा (जिन का सृष्टिकर्म में उपयोग है वह) यह सब कुछ यज्ञ में समाविष्ट है ॥ (४)॥ इस प्रकार (पूर्व कथनानुसार सुग्वापन कर्म से सम्बन्ध रखने वाले 'सुग्वापननिगद') मन्त्र की ६ व्याहृतियाँ (वाक्य) होजाती हैं *। पुरुष (आध्यात्मिकपक्ष) में नौ (सात शीर्षण्य, दो मलमूत्राम सम्भूय ६) प्राण हैं। (नवव्याहृत्यात्मक इस सुग्वापनमन्त्र से) यह होता अपने इस वेष आधिभौतिक पक्ष में इन्हीं ६ प्राणों की स्थापित करता है। इसी (नवप्राणाधानसम्पत्ति के लिए) सुग्वापनमन्त्र की ६ व्याहृतियाँ होती हैं ॥(५)॥

सुग्वापननिगदसमाप्त

——१——

२—आभावण–प्रत्याभावणनिगद

(अग्निर्होता वेदस्मेहोतम ' इत्यादि नवव्याहृत्यात्मक होतृकर्तृक 'सुग्वापन' कर्म के अनन्तर–अध्वर्यु होता उद्गाता ब्रह्मा इन चारों ऋत्विजों के सहयोग से आभावण–प्रत्याभावण–कर्मेतिकर्तव्यता सम्पन्न होती है। एक दूसरे ऋत्विक का एक दूसरे ऋत्विक् के प्रति यज्ञस्वरूप की महिमा का वर्णन–बखान ही आभावण–प्रत्याभावण कर्म कहलाता है। यह कर्म किया क्यों जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रथम एक वैज्ञानिक आख्यान उद्धृत होरहा है जिसका तात्त्विक विश्लेषण विवेचना–प्रकरण में

---

* १—"अग्निर्होता" ।
२—"वरुणो होत्रम् ।
३—"वेत्तु प्रवित्रम्" ।
४—वायु व मरुत । देवता" ।
५—"पूतवर्तिमध्वर्यो । सुक्षमाध्वस्य" ।
६—"वसुर्त विद्याणम्" ।
७—"ईडामहे दर्वा ३॥ ईडेन्यान्" ।
८—"नमस्याम नमस्यान् ।
९—"यजाम यज्ञियान्" ।

इति-सुग्वापननिगदव्याहृतयः (९)

होगा। मौलिक उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाले उसी वैज्ञानिक आख्यान का स्मरण कराने वाली हुई श्रुति कहती है)—(किसी युग में) यज्ञ देवताओं को छोड़कर चला गया (लोकान्तर में पलायित उस) यज्ञ को देवताओंने बड़े अनुनय विनय के साथ बुलाना आरम्भ किया कि (हे यज्ञदेव !) तुम हमारी सुनो (मानों), हमारी ओर लौट आओ। (देवदेवताओं की अनुनय विनय युक्त वाणी से प्रभावित होकर लोकान्तर में गया हुआ) यज्ञ 'ऐसा ही हो' (यह स्वीकृति वचन) कहता हुआ देवों की ओर लौट आया। वापिस लौटे हुए उस यज्ञ से देवोंने अपना यज्ञकर्म सम्पन्न किया (यज्ञोपनिष्कर्मता पूरी की)। इस यज्ञ से यजन कर के (देवदेवता) वे बन गए जो कि (आज उन का) यह देवस्वरूप (त्रैलोक्यात्मक सम्वत्सर मण्डल में प्रतिष्ठित) है। (अर्थात् देवदेवताओंने अनुनय विनय द्वारा वापस लौटे हुए यज्ञकर्म से ही अपना देवत्व सुरक्षित रखा यही देवों का देवत्व बना ॥ (६) ॥ जो जो कि अध्वर्यु (नामक ऋत्विक 'ओश्रावय' इत्यादि रूप से) आश्रावण-कर्म करता है (अपने इस आश्रावणकर्म से प्राकृतिक देवदेवताओं की भांति) यज्ञ को ही अनुनय विनय से बुलाता है कि, आप हमारी सुनो हमारी ओर लौट आओ। (तात्पर्य अध्वर्यु कृत आश्रावण कर्म लोकान्तर में गत यज्ञस्वरूप सम्पादक यज्ञ को इस वेदिस्थान में वापस बुलाने के लिए ही विहित है)। (अध्वर्यु कृत आश्रावण के अनन्तर आग्नीध्र नामक ऋत्विक्—'अस्तु श्रौषट्' इत्याकारक जो प्रत्याश्रावण कर्म करता है—उस प्रत्याश्रावण कर्म से यह पलायित यज्ञ 'ऐसा ही हो' इस स्वीकृति के साथ लौट आता है। (तात्पर्य आग्नीध्रकृत प्रत्याश्रावण कर्म यज्ञ के स्वीकृति पूर्वक वापस लौट आने के स्थान में विहित है)। (इस प्रकार अध्वर्यु कृत आश्रावण आग्नीध्रकृत प्रत्याश्रावण से समीप आए हुए यज्ञ के बल से—यजमान को (इस यज्ञ सम्पादन कर्म में) परोक्ष रखते हुए ऋत्विक लोग सम्प्रदाय का अनुगमन करते हैं—(परस्पर एक दूसरे के प्रति योग्य इतिकर्तव्यता का विभाजन करते हुए यज्ञोपनिष्कर्मता पूर्ण करते हैं)। (तात्पर्य—आश्रावण प्रत्याश्रावण रूप वाङ्मय निगद कर्म से यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है। इस में चारों ऋत्विजों का प्रधान सहयोग रहता है। केवल यजमान इस निगद कर्म में भाग नहीं लेता) जिस प्रकार (लोक में किसी बृहत् पात्र को पूर्ण करने के लिए समवेत अनेक) व्यक्ति अपने भाग आगे की व्यक्तियों को समर्पण कर

पात्र सींचते हुए यज्ञपात्र पूर्ण करते हैं तथैव परस्पर प्रदान क्रम से इस यज्ञद्वारा वे ऋत्विक सम्प्रदाय का अनुगमन करते हैं। (यहां पारस्परिक सम्प्रदान किसी भौतिक द्रव्य का नहीं होता अपितु केवल वाक् प्रयोग अर्थात निगदमन्त्र-प्रयोग से ही सम्प्रदायानुगमन होता है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करती हुई श्रुति कहती है कि) इस वाक् (वाङ्मय निगदमन्त्रप्रयोग) द्वारा ही सम्प्रदान पूर्वक ऋत्विक लोग अनुष्ठान करते हैं। वाक् ही यज्ञ है और वाक् ही निश्चयेन यज्ञका देव है। अतः वाग्द्वारा ही सम्प्रदानपूर्वक यज्ञानुष्ठान करते हैं ॥ (७) ॥ (आश्रावण प्रत्याश्रावण कर्म के पारस्परिक सम्प्रदान से सभी ऋत्विजों का स्पर्शात्मकरूप से शान्त-अनुद्विग्न वृत्ति में रहना आवश्यक है। इस निगदकर्म में उन्हें उतना ही कुछ बोलना है जितने का निगदकर्म से सम्बन्ध है। प्रस्तुतानुपयोगिनी लौकिकवार्त्ता सर्वथा निषिद्ध है। इसी विशेषादेश का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है कि) वह अध्वर्यु (अपने मुख से होता नामक ऋत्विक् के प्रति अनुवाक्या के लिए प्रैष करता हुआ) केवल 'अनुब्रूहि' [अनुवचन करो] इतना मात्र कह कर अप्रासंगिक और कुछ न बोले। नाही होता ही और कुछ अप्रासंगिक उच्चारण करे। [क्योंकि अध्वर्युकृत प्रैष एवं अनुवचनद्वारा होता में भी वाग्रूप यज्ञ का समावेश हो जाता है]। [अनन्तर] अध्वर्यु [आग्नीध्र को लक्ष्य बनाकर 'ओ श्रावय' इत्यादिरूप से] आश्रावण करता है। इस आश्रावण से यज्ञ आग्नीध्र के समीप लौट जाता है [आग्नीध्र यज्ञस्थान से युक्त हो जाता है] ॥ [८] ॥ [चूंकि अध्वर्युकृत आश्रावण से आग्नीध्र में यज्ञात्मरूप का समावेश होगया है अतएव] जबतक आग्नीध्र ['अस्तु श्रौषट्' इत्यादिरूप से] प्रत्याश्रावण न करले, तबतक वह निष्प्रयोजन कुछ न बोले। [अध्वर्युकृत आश्रावण के अनन्तर ही अन्य निष्प्रयोजन वाक् का संयम कर रहा हुआ] आग्नीध्र ['अस्तु श्रौषट्' रूप से अध्वर्यु के प्रति] प्रत्याश्रावण करता है। [आग्नीध्रकृत] इस प्रत्याश्रावण से यज्ञात्मरूप पुनः अध्वर्यु की ओर लौट आती है। [क्योंकि प्रत्याश्रावण कर्म अध्वर्युकृत आश्रावण कर्म का ही समाधान है] ॥ [९] ॥ [आग्नीध्रकृत प्रत्याश्रावण से यज्ञात्मरूप से युक्त होता हुआ] वह अध्वर्यु जबतक [होता के प्रति] यज [यजन करो] इस निगद का प्रैष न करले तबतक अन्य कुछ निष्प्रयोजन न बोले। अपने यज इस प्रैष से ही अध्वर्यु होता के लिए यज्ञात्मरूप समर्पित कर

देता है [फलस्वरूप यहाँ आकर होता भी वषट्कार से मुक्त होजाता है] ॥ [एवंभूत] [अध्वर्यु द्वारा 'स्वाहा' निगदद्वारा वषट्कार से मुक्त होता हुआ] वह होता जबतक 'वौषट्' निगद का उच्चारण न करे, तबतक अन्य कुछ असम्बद्ध न बोले। [होता के मुख से 'वौषट्' सुनने के साथ ही] वषट्कारद्वारा आहवनीयाग्निलक्षण योनि में, [निगद सहित] हविर्लक्षण रेत की आहुति दे देता है। अग्नि निश्चयेन यज्ञ की योनि है। इसी में [रेतोभूत हवि: प्रदान से] यह [देवसम्बन्ध सर्वात्मक यज्ञात्मा] उत्पन्न होता है। हविर्दान के सम्बन्ध में वषट्कार की [अनिवार्यता] यही (उक्त) व्यवस्था है। अब [प्रसङ्गोपात्त] सोमयाग में [होने वाली वषट्कारव्यवस्था के सम्बन्ध में भी कह देते हैं] ॥ (११) ॥ (सोमयाग में) यह अध्वर्यु (सोमरस से परिपूर्ण पात्रमय) ग्रह (सोमपात्र) का ग्रहण कर जबतक उद्गातागण स्तोत्रपाठ न उपाकरण कर्म न करलें तबतक असम्बद्ध कुछ न बोले। (ग्रहग्रहण–अनन्तर उद्गाताओं के प्रति अध्वर्यु 'उपावर्तध्वम्' (समीप चले आइए) इस वाक्योच्चारणमात्र से वषट्कार उद्गाताओं के लिए समर्पित कर देता है। (फलस्वरूप उद्गाता लोग वषट्कार से मुक्त हो जाते हैं) ॥ (१२) ॥ (अध्वर्यु द्वारा 'उपावर्तध्वम्' निगद से वषट्कार से मुक्त हो जाने वाले) वे उद्गाता लोग जबतक (अपनी स्तोत्रियाओं में से) अन्तिम स्तोत्रिया का उद्गान न करलें, तबतक असम्बद्ध कुछ न बोलें। (स्तोत्रिया समाप्त्यनन्तर उद्गाता लोग अन्त में होता को लक्ष्य बनाकर–'एषोऽक्षा'–यह अन्तिम स्तोत्रिया है– इस निगद का उच्चारण करते हैं। श्रुति कहती है कि) उद्गाता लोग 'एषोऽक्षा' इस उच्चारण से ही होता के लिए वषट्कार समर्पित कर देते हैं–(फलस्वरूप होता भी वषट्कार से मुक्त हो जाता है) ॥ (१३) ॥ (उद्गातृकर्तृक स्तोत्रियोद्गान कर्म की अन्तिम स्तोत्रिया से सम्बन्ध रखने वाले 'एषोऽक्षा' इस निगद से वषट्कार से मुक्त होजाने वाला) वह होता जबतक यह 'वौषट्' रूप से वषट्कार न करले तबतक असम्बद्ध कुछ न बोले। (होतृकर्तृक वषट्कारानन्तर वषट्कार के साथ ही) अध्वर्यु वषट्कारद्वारा आहवनीयाग्निलक्षण योनि में उस (निषद्य ग्रह नामक सोमरूप) रेत की आहुति दे देता है। अग्नि निश्चयेन यज्ञ की योनि है। इसी में (रेतोभूता सोमाहुति से) यह (यज्ञात्मा ...) ... के माध्यम से यजमान को मानुषात्मा ऐहलौकिक आयुर्भोगानन्तर दिव्याभिव्यक्ति ...

में प्रतिष्ठित होगा) उत्पन्न होता है। (सोमयाग के सम्बन्ध में वाङ्नियमकर्म की यही आधिदैविक मीमांसा है) ॥ १४) ॥ (आश्रावण प्रत्याश्रावणनिगद कर्म में यदि ऋत्विक् लोग अप्रस्तुतवाक् का उच्चारण करदें, तो क्या अनिष्ट हो ? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) यदि वह ऋत्विक् अप्रस्तुतवाक् का उच्चारण कर देगा तो (वह परम्परया) जिस यज्ञसम्पत् को प्राप्त करता है (अप्रस्तुत वागुच्चारण से उस यज्ञसम्पत् का विच्छेद करता हुआ वह होता) उसी प्रकार यजमान को यज्ञसम्पत् से पृथक् कर देगा जैसे कि (स्वस्थानों से दृढ़पात्र को परिपूर्ण करने वाले व्यक्ति अज्ञानपानी से) उस पूर्णपात्र को रिक्त कर देते हैं (रत्न देते हैं)। तात्पर्य—लौकिक कर्म जैसे अन्यवृत्ति से अपूर्ण रह जाता है एवमेव अप्रस्तुत वागुच्चारण से यज्ञकर्म स्वसम्पत्तानधारा खोता हुआ अपूर्ण रह जायगा एवं यही अप्रस्तुत वागुच्चारण से महान् अनिष्ट होगा)। (ठीक इसके विपरीत) जिस यजमान के यज्ञ के (आश्रावण प्रत्याश्रावणनिगद कर्म में) ऋत्विक् लोग (अप्रस्तुत वाक् का संयम करते हुए) परस्पर एक दूसरे के प्रति यज्ञसम्पत् समर्पित करते हुए निगद कर्म का अनुगमन करते हैं उस कर्म में सभी कुछ (यज्ञसम्पत्तियाँ) सम्पन्न होजाती हैं इस सावधानी से कोई भी ऋत्विक् अपने कर्म से च्युत नहीं होता। इस लिए (ऋत्विजों को चाहिए कि) वे इसी प्रकार (विहित नियमानुसार) ही (यज्ञोपसम्पत्ता पूरी करते हुए) यज्ञ को पुष्ट (परिपूर्ण) करें ॥ (१५) ॥

(प्रस्तुत निगद कर्म में पांच व्याहृतियाँ होती हैं। इस पाङ्क्त संख्या की मौलिक उत्पत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है)—(इस आश्रावण प्रत्याश्रावण कर्म में) निश्चयेन ये [निम्न लिखित] पांच व्याहृतियाँ होती हैं—'ओ श्रावय'—'अस्तु श्रौषट्'—'यज'—'ये यजामहे'—'वौषट्'। (प्राकृतिक संवत्सर यज्ञ सम्वत्सरप्रजापतिरूप से विद्यमान प्राकृतिक पार्थिव यज्ञ ये दोनों) यज्ञ पाङ्क्तयज्ञ हैं [यज्ञ से उत्पन्न] पशु [भी] पाङ्क्तपशु हैं; [प्राकृतिक] संवत्सर [यज्ञ] की [भी] पांच [ही] ऋतुएँ हैं। यही [पाङ्क्तपशुता ही] इस यज्ञ की एक सीमित [प्राकृतिक] सम्पत् है। [इसी प्राकृतिक सम्पत् समृद्ध के लिए यहां पांच व्याहृतियाँ विहित हैं] ॥ [१६] ॥ [उन पांचों व्याहृतियों के अक्षर १७ होते हैं। इस सप्तदश संख्या की उत्पत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है —उन पांच व्याहृतियों के (ओ श्रा-व-य अ-स्तु-श्रौ-षट्-य-ज-ये-य-जा-म-हे

भी—मह्—इस क्रम से) उत्तर भवन है। प्रजापति निरुक्तेन रूप (अव्यक्त है [illegible] अनिरुक्तात्मक) है। प्रजापति (ही) सब है। सब (भी) इस यज्ञ की एक (प्राकृतिक) सीमा है, सब (भी इस यज्ञ की) सम्पत् है। (इस प्रकार पञ्चप्राङ्क्तियों से समस्त अवयवों से समस्त कामना प्राजापत्यसम्पत् भी प्राप्त हो जाती है) ॥ (१७) ॥ (उक्त पांच प्राकृतिक प्राङ्क्तियों से प्राङ्क्तिक दाम्पत्यरिक प्राण देवताओं के द्वारा वृष्टि-कर्म भी सम्पादित है। फलतः इस वैध मानुष यज्ञ में भी यदि यजमान वृष्टिकामना रखता है तो उस को एक विशेष पद्धति के अनुगमन से वह कामना भी पूरी हो जाती है। उसी प्राकृतिक विशेष पद्धति का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)—(प्राक्-सवन) देवदेवताओंने 'ओमापश्' इस प्राङ्क्ति से (वृष्टिप्रवर्तक) पुरोवात (पुरवाई हवा—मान्सून) उत्पन्न की। अस्तु 'औमन्' इस प्राङ्क्ति से (आकाश) बादलों से व्याप्त कर दिया। 'वष' इस प्राङ्क्ति से बिजली उत्पन्न की। 'ये यजामहे' इस प्राङ्क्ति से गर्जन उत्पन्न की। एवं—'वौषट्' इस प्राङ्क्ति से पानी बरसा दिया। (इस प्रकार पांच प्राङ्क्तियों के समन्वय से वृष्टिकर्म पूरा कर दिया एवं करते रहते हैं)॥(१८)॥

वह यजमान यदि वृष्टि की कामना रखता हो, यदी यजमान [illegible] लौरी आदि इष्टि से यजन करने वाला हो तो उसे (इष्टिप्रकल्पिता इस) सर्वपूर्व-मात्रादि में ही (ऋत्विजों से) यह कह देना चाहिए कि, मैं वृष्टि की इच्छा रखता हूँ। इस वृष्टि कर्म में उस यजमान को अध्वर्यु से तो यह कहना चाहिए कि, तुम अपने मानस यज्ञ से पुरोवात और विद्युत् का ध्यान करो। आग्नीध्र नामक ऋत्विक् से यह कहना चाहिए कि, तुम मन से बादलों का ध्यान करो। होता नामक ऋत्विक् से यह कहना चाहिए कि तुम स्तनयित्नु और पानी का ध्यान करो। ब्रह्मा नामक (वैदिक) ऋत्विक् से यह कहना चाहिए कि, आप पुरोवातादि सब का मन से ध्यान कीजिए। अवश्य ही (यजमान के) उस यज्ञ में पानी बरसता है जिस यज्ञ में (उक्त) ऋत्विक् भरते (उक्त मनस्वों के समन्वय से—पञ्चप्राङ्क्तिलक्षण—यज्ञ से सम्पन्न होकर अनुष्ठान करते हैं ॥ (१९) ॥ (अपने प्राकृतिक पार्थिव यज्ञ में प्राणदेवता पञ्चप्राङ्क्त्यात्मक इसी आधारस्, प्रत्याधारस कर्म से अपनी सम्पूर्ण यज्ञकामनायें विराट् गौ रूपा इसी पृथिवी से दोहन करते हैं। इसी एक और प्रासङ्गिक तत्त्व का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है

कि)। 'अभावर' इस म्याहृति से देवदेवतामोंने विराट् (गौरूपपरापृथिवी) का आह्वान किया। 'भस्तु भौषट्' इस म्याहृति से (स्तनपानार्थ) वत्स को पाश से मुक्त किया। यज' इस म्याहृति से वत्स को पृथक् किया। ये यजामहे' इस म्याहृति से (दोहनार्थ ऊध-स्तन) के समीप बैठ गए। एवं-'वौषट्' इस वषट्कारनिष्ठा म्याहृति से ही उस विराट का दोहन कर लिया। यह पृथिवी ही निश्चयेन विराट् है। इसी का यह (उक्त लक्षण) दोह है। (जिस प्रकार प्राकृतिक प्राण देवता इस विराट्रूपधरा-गोरूपधरा-पृथिवी के दोहन से अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूरी किया करते हैं) इसी प्रकार यह विराड्गौ इस यजमान के लिए वे सम्पूर्ण कामनाएँ प्रदान कर देती हैं जो यजमान विराड्गौ के उपक्रान्त प्राकृतिक दोह का रहस्य जानता है॥ (२०)॥

आश्रावण प्रत्याश्रावणनिगदसमाप्त

— २ —

पाँचवें अध्याय में दूसरा चौथे प्रपाठक में तीसरा

'स्रुग्ब्राह्मण' समाप्त

मूलानुवादसमाप्त (ग)

घ—सूत्रानुगतपदार्थसंग्रह—

१, २—स्रुगादापन, तथा आश्रावण प्रत्याश्रावणकर्म्म

वरणकर्म समाप्ति के अनन्तर 'होता' नामक ऋत्विक् अध्वर्यु और आग्नीध्र के अंत देश में रहा करता है। इस होतृकर्म्म के सम्पादन (स्पर्श) कर्म्मानन्तर अध्वर्यु और आग्नीध्र दोनों यथास्थान बैठ जाते हैं—जैसा कि— समृद्धा उपविशतः' (का श्रौ सू० ३।२।१५) इत्यादि सूत्र व्याख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है—(देखिए। श वि मा ५ वर्ष २ अङ्क ८४ पृष्ठ)। सूत्रानुगता इस पद्धति के अनन्तर क्रमप्राप्त 'स्रुगादापन' कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता प्रारम्भ होती है। अन्यत्र जहां तूष्णीं बिना मन्त्रप्रयोग के स्रुगादापनकर्म्म होता है वहां प्रकृत इष्टि में मन्त्रोच्चारणपूर्वक स्रुगादापन विहित है। वरणकर्म्म से युत होता अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रम्' इत्यादि मन्त्रलक्षण स्रुगादापननिगद का पाठ करता है। इधर होता मन्त्रपाठ आरम्भ करता है, उधर अध्वर्यु जुहू उपभृत् नामक स्रुक का ग्रहण करता है। यही तमन्त्रक स्रुगादापन' कर्म्म है। होतृकर्म

निगदमन्त्र के— 'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रं वेत्तु प्राविंत्र साधु ते यजमान देवता' ... होतारमहृथा घृतवतीमध्वर्यो ! स्रुचमास्यस्व देवयुव विश्ववारामीडामहै देवाँ ईडेन्यान् नमस्याम नमस्यान् यजाम यज्ञियान्" इस वाक्य के उच्चारण में भी थोड़ी विशेषता है। आरम्भ से 'यजमान देवता' पर्यन्त तो होता उपांशु-मन्दस्वरपूर्वक-उच्चारण करता है। 'घाउर्ग्नि०' से आरम्भ कर 'यजाम यज्ञियान्' पर्यन्त उच्चस्वर से उच्चारण करता है। जिस समय होता के मुख से—'घृतवतीमध्वर्यो ! स्रुचमास्यस्व' मन्त्रभाग उच्चरित होता है उसी समय (एतन्मन्त्रभागोच्चारण काल में ही) अध्वर्यु स्रुक् का ग्रहण करता है। होतृकर्तृक निगदपाठ काल में अध्वर्यु द्वारा स्रुक्-ग्रहण ही "स्रुगादापन" कर्म है, यही निष्कर्ष है।

भगवान् कात्यायन कहते हैं कि, स्रुगादापनकर्म्म प्रयाजकर्म्म के समीप ही विहित है। अतएव मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही स्रुगादापनकर्म्म करना चाहिए। होताद्वारा प्रयुक्त निगदमन्त्र के—'घृतवतीम्' भाग के उच्चरित होने पर अध्वर्यु जुहू-उपभृत् नामक स्रुचों का ग्रहण कर हविष्यों से पूर्व परिधियों के पश्चिममार्ग से वामपाद से वेदि के दक्षिण पार्श्व में (जोकि— 'अवति' प्रदेश माना गया है) जा के ईशानाभिमुख खड़ा हो जाता है। वहाँ खड़ा होकर वह— 'ओ श्रावय' यह आहुति (-आग्नीध्र के प्रति) बोलता है। प्रत्युत्तर में आग्नीध्र—'अस्तु श्रौषट्' इस आहुति का प्रयोग करता है। अनन्तर पुनः अध्वर्यु—होता को लक्ष्य बना कर—'समिधो यज' इस आहुति का उच्चारण करता है। प्रत्युत्तर में होता—'ये यजामहे' इस आहुति का उच्चारण करता है। मन्त्रान्त में अध्वर्यु जुहू को प्राङ्मुख बनाता हुआ 'वौषट्' इस वषट्कारात्मिका आहुति के उच्चारण के साथ साथ जुहूस्थित आज्य का तृतीयांश की आहुति दे देता है। स्रुगादापन तथा आश्रावण कर्म्म की इसी इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(१)—अग्निर्होतेति स्रुगादापनं प्रयाजेषु, तस्मिंश्चे । का० श्रौ० सू० ३।२।११।

(२)—घृतवतीमित्युक्ते स्रुचावादाय, अतिक्रम्य, आश्राव्य आह— समिधो यजे ति' । का० श्रौ० सू० ३।२।१७।

इति—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह (ख)

ङ-वैज्ञानिकविवेचना—

१—स्रुगादापनकर्मोपपत्ति

स्रुच्युपपुच्छ वरण कर्म में पूर्व होता स्वस्त्ययनरूप-कर्मानन्तर-'अग्निर्होता वस्व्यमन्होऽस्मि'—इत्यादि ब्राह्मणपठित स्रुगादापन कर्म का पाठ करता है। वरणकर्म से पूर्व यह मनुष्य होता अपने स्वाभाविक-औत्पत्तिक-सहजसिद्ध मनुष्य भाव से प्रज्ञापराध का सहज पात्र है। असावधानी कर बैठना मनुष्यत्व का स्वभाव है। यज्ञकर्म वह प्राकृतिक कर्म है, जिसमें हो जानेवाली थोड़ी भी असावधानी यज्ञस्वरूप विकृत कर देती है फलस्वरूप यज्ञ यहां अनिष्टजनक बन सकता है। इस अनिष्टजनकताप्रवर्त्तक मानुषदोष के निराकरण के लिए यह मनुष्य होता अपने हौत्र कर्म का उत्तरदायित्व मन्त्र शक्ति द्वारा प्राकृतिक प्राणात्मक दिव्याग्नि पर ही डाल रहा है। प्राकृतिक दिव्याग्निलक्षण दिव्यहोता को लक्ष्य बनाता हुआ यह कहता है कि—"मैं इस यज्ञ का होता नहीं हूं। होता तो दिव्याग्नि है। जो वास्तविक होता हैं, वे ही अपने इस हौत्रकर्म का इतिकर्त्तव्यता का ध्यान रक्खें। मुझसे जो असावधानी होगी वह उन्हीं की असावधानी मानी जायगी। लौकिककर्म हों, अथवा वैदिक (शास्त्रीय) कर्म, दोनों के लिये प्रेरणा हमें प्राकृतिक प्राणदेवताओं से ही मिलती है। होता सब कुछ है प्राणदेवताओं की प्रेरणा से ही हम करते सब कुछ हैं—प्राकृतिक बल प्रेरणा से ही। परन्तु योगमाया के बन्धन से अहन्ताभिमान हमें होता है। हम यह मान बैठते हैं कि हम ही सब कुछ कर रहे हैं, जबकि तत्वतः—"तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यशक्ताः" सिद्धान्तानुसार इन प्राकृतिक शक्तियों के आगे हमारी स्वतन्त्र सत्ता का कुछ भी मूल्य नहीं है। "त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि, तथा करोमि" के अनुसार हृदयावच्छिन्न दिव्यप्राणशक्तिघन अन्तर्यामी की प्रेरणा से ही हमारा सम्पूर्ण कर्मकलाप सञ्चालित है। जो व्यक्ति अपने कर्मों में हृदयस्थ प्राणमूर्त्ति इस अन्तर्यामी को साक्षी बनाए रहता है निश्चयेन इस आध्यात्मिक भावना मात्र से उसका कर्म मानुषभाव से पृथक् रहता हुआ सफल हो जाता है। यही भारतीय भक्तिकाण्ड का सुप्रसिद्ध 'आत्मसमर्पण लक्षण भक्तियोग' है, जिसके अनुगामी भक्त सदा निर्द्वन्द्व बने रहते हैं। ठीक इसके विपरीत अन्तर्यामी की दूसरे शब्दों में दिव्यप्राणशक्तियों की उपेक्षा कर जो मनुष्य अपने पक्ष का अभि

मान करते हुए कर्म्मों में प्रवृत्त होते हैं । अवश्यमेव उनसे अज्ञानतावश लौकिकवत् फलस्वरूप उनका कर्म अपूर्ण रहता हुआ अनिष्टजनक बन जाता है । कारण है लौकिक कर्म्मों में मनुष्य अपनी शक्ति के भरोसे पर भी यथाकथञ्चित् फल प्राप्त करले । परन्तु उन वैदिक कर्म्मों की सफलता—जो कि केवल विज्ञान एवं प्राकृतिक फलों को लक्ष्य लेकर हुआ है—उन प्राकृतिक प्राणदेवताओं के प्रति आत्मसमर्पण से ही सम्भव है । लौकिक कर्म्मों में जहां आत्मनिष्ठकर्म काम देता है, वहां अलौकिक वैदिक परोक्ष कर्म्मों में हमारी आत्मशक्ति असमर्थ है । अतएव इनके सम्बन्ध में हमारा शक्त्यभिमान सर्वथा निरर्थक ही सिद्ध हो जाता है । अतएव आवश्यक है, कि हम अपने यज्ञात्मक वैदिक कर्म्मों का भार प्राकृतिक प्राणदेवताओं पर ही डाल दें । अवश्य ही इस आत्मसमर्पण से हमारा वैदिक कर्म्म बिना किसी विघ्नबाधा के साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न हो जायगा । एकमात्र इसी भावना को व्यक्त करने के लिये ही, भावना द्वारा स्वाभिमान निराकरण पूर्वक देवाद्य प्राप्ति के लिये ही होता कहता है कि—'होता अग्नि ही अपने होम कर्म्म को जाने' । इसी भावना का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—'अग्निरिदं होता वेत्तु इत्येवैतदाह' ।

मन्त्र का अगला भाग है—'वेत्तु मानिष्टम्' । अनुष्ठेय होमकर्म्म की सफलता से ही यज्ञस्वरूपसिद्धि सम्भव है । अतः प्रथम अनुष्ठेयकर्म्म की सफलता अभीष्ट है । इसी के लिये 'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम्' यह कहा गया है । अनुष्ठेय होम कर्म्मानन्तर दूसरा स्थान यज्ञ है । इसके लिये भी इसी प्राणाग्निदेव को साक्षी बनाना आवश्यक है । अवश्य ही यह जैसे पवित्र कर्म्म का उत्तरदायित्व भी अग्नि अवश्य ही ग्रहण कर लेंगे । निन्द्य पातकजनक-असत्कर्म्म जहां दिव्यप्राण सम्पत्ति से वहिष्कृत हैं, वहां पुण्यातिशयजनक-श्रेष्ठ-सत्कर्म्म (यज्ञ-तपो-दानादि शास्त्रीयकर्म्म, इष्ट-आपूर्त-दत्तादि लौकिक कर्म्म) दिव्यप्राणसम्पत्ति के अन्तर्भूत माने गये हैं । पवित्रतम प्राणदेवता सजातीय पवित्रतम कर्म्मों के ही साक्षी बना करते हैं । आसुर अपवित्र कर्म्मों के लिये जहां आसुर-मलिन प्राणों से प्रेरणा बल मिलता है वहां दिव्य-पवित्र कर्म्मों के लिये दिव्य पवित्र प्राणों से प्रेरणा मिलती है । इस यज्ञ से अन्य और कौन सा कर्म्म अतिशयरूपेण दिव्य, एवं पवित्र कर्म्म होगा, जिसके आधार पर प्रजापति का पवित्रतम सृष्टिकर्म्म प्रतिष्ठित है, प्रजापति की प्रजा का जीवन सुरक्षित है । इष्टकामधुक यज्ञ अपने यजमान

दो अवयवों से अन्य पवित्र कर्म्मों की तुलना में विशेष रूप से पवित्र बना हुआ है। अग्नि और सोम दोनों तत्त्वों के रासायनिक सम्मिश्रण से उत्पन्न उभयात्मक अपूर्व भाव ही 'यज्ञ' है। अग्नि की पवित्रता लोक में भी प्रत्यक्ष है। दूषित मलिन-अशुचि-भावों को नष्ट कर देना अग्नि का मुख्य काम है। इसी आधार पर तो पात्रादि की अशुचि अग्नितापसे लोक में दूर की जाती है। जबतक शरीर में अग्निदेवता 'परमया रूच्या बल्गलीति' (प्रज्वलित रहते हैं), तभी तक अध्यात्मसंस्था (आत्मयुक्त शरीर) पवित्र रहता है। अग्निदेव के उत्क्रान्त होते ही आसुर मलीन वारुणप्राण का प्रभुत्व हो जाता है, फलस्वरूप शवशरीर सर्वथा अशुचि-पूतिगन्धयुक्त बन जाता है। अग्नि का यह पावक धर्म्म ब्रह्मसोमाहुति पर ही निर्भर है। जब तक ब्रह्मसोम दाहक अग्नि में आहुत होता रहता है, तभीतक अन्नादाग्नि प्रज्वलित रहता है। अतएव पवित्र धर्म्म का मूल प्रवर्त्तक पारमेष्ठ्य 'ब्रह्म' नामक सोमतत्त्व ही माना गया है, जिसका—"पवित्र ते विततं ब्रह्मणस्पते॰" इत्यादि ऋङ्मन्त्र से विश्लेषण हुआ है। पवित्र अग्नि, अग्निस्वरूप रक्षक पवित्र ब्रह्मणस्पति-ब्रह्म-नामक पारमेष्ठ्य सोम, दोनों पवित्र तत्त्वों के समन्वित रूप का ही नाम पूर्व कथनानुसार यज्ञ है। जिसका स्वरूप विश्व के सर्वश्रेष्ठ दो पवित्र तत्त्वों के सम्मिश्रण से निष्पन्न हुआ हो उसे (यज्ञ को) हम अन्य पवित्र तत्त्वों की अपेक्षा अवश्य ही अतिशय रूप से पवित्र कह सकते हैं। इसीलिये तो श्रेष्ठकर्म्म में परिगणना में इसे—"यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म्म" इत्यादि रूपसे श्रेष्ठतम बतलाया जाता है। यज्ञ की यही अग्नि-सोममयी-उभयधर्म्मात्मिका अतिशय पवित्रता सूचित करने के लिये श्रुति ने इसे 'प्रावित्र' (प्रकर्षेण अवति) कहा है। प्राविन्न शब्द से यद्यपि प्रकृत में रक्षा कर्म्म ही अभिप्रेत है। तथापि रक्षात्मक यह यज्ञकर्म्म चूंकि पवित्रतम है, अतएव प्रसङ्गोपात्त परम्परया प्राविन्न से यज्ञ के पवित्रतम धर्म का भी विश्लेषण कर दिया गया है। अग्नीषोमात्मक यज्ञ की अग्निसोमात्मिका पवित्रता ही रक्षाकर्म्म का प्रधान निमित्त बनती है। एकमात्र इसी आधार पर 'प्राविन्न से "पवित्रतम' रूप फलितार्थ भी निकाला जा सकता है। प्रकृत रक्षात्मक धर्म्म तो यज्ञ का स्पष्ट ही है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, तीनों ही संस्थाओं की रक्षा अग्नीसोमात्मक यज्ञ पर ही निर्भर है। अन्ना-दानात्मक यज्ञ आध्यात्मिक संस्था का रक्षक है, आदानविसर्गक्रियात्मक यज्ञ

आधिभौतिक संस्था का रक्षक है, एवं पारमेष्ठ्य सोमाहुत्यात्मक यज्ञ आधिदैविक सौरसंस्था का स्वरूपरक्षक है। सर्वरक्षता ही यज्ञ का अन्यरक्षकापेक्षया महत्त्व रखता धर्म है—अतएव यह 'प्राशित्र' है। प्राशित्रयज्ञ का यथानुरूप स्वरूप ज्ञान ही होत्रकर्म-सफलता का मूल है। अतएव अनुष्ठेय अग्निकर्मात्मक होत्रकर्म परिज्ञान के साथ साथ यज्ञस्वरूप परिज्ञान भी आवश्यक रूप से अपेक्षित हो जाता है। अतएव होत्रकर्म के साथ साथ— वेत्तु प्राशित्रम् से यज्ञकर्म की ओर भी दिव्याग्नि का ध्यान आकर्षित किया गया है। यज्ञकर्मानुगता इसी भावना का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है— यज्ञो वै प्राशित्रम्। वेत्तु यज्ञमित्येवैतदाह। उभय वाक्य निष्कर्ष यही है कि—"मेरा। (मानुष होता का) होत्रकर्म, तथा तद्द्वारा सम्पन्न होने वाला यज्ञकर्म दोनों के प्राणाग्निदेव साक्षी बने रहें। उन्हीं से इन दोनों की सफलता के लिए प्रेरणाबल मिलता रहे।"

मन्त्र का अगला भाग है—'साधु ते यजमान देवता' (योऽग्नि होतारम् वृथा)। देवबलानुग्रहप्राप्त्यनन्तर होता को यह दृढ़ आत्मविश्वास हो जाता है कि, अब निश्चयेन यजमान का यज्ञकर्म निर्विघ्न सुसम्पन्न हो जायगा। अपने इसी आत्मभाव को वह यजमान के प्रति इन शब्दों में प्रकट कर रहा है कि— हे यजमान! तुमने किसी सामान्य व्यक्ति का होत्रकर्म के लिए वरण नहीं किया है। अपितु मेरे व्याज से तुमने उस दिव्यप्राणाग्नि का होत्र कर्म के लिये वरण किया है जिसके अनुग्रह प्राप्त हो जाने पर अवश्यमेव यज्ञकर्म सफल हो जाया करता है। तुमने जिस अग्निदेवता का आश्रय लिया है तुम्हारे वे अग्निदेवता उस होत्र कर्म के लिए साधु हैं, पूर्ण समर्थ हैं। यह तुम्हारा सौभाग्य है कि, अग्नि जैसे महा देवता का तुम्हें सहयोग मिल रहा है। स्वाभाविक यज्ञपद्धति के साथ साथ ही इस निरूपण से श्रुति संकेतरूपेण हमें यह लोकशिक्षा भी दे रही है कि, हमें अपने लौकिक कर्मों में उन्हीं सहभागियों का सहयोग लेना चाहिये, जो स्वयं भी उस कर्म में रुचि रखते हों साथ ही उसमें उसे सफल बनाने की योग्यता भी हो। ऐसे योग्य-व्यावहारिक-समर्थ-सहयोगियों के लिए लोक में भी यही सूक्ति व्यवहृत रहे है कि— "अब उनका कार्य अवश्य सफल हो जायगा, क्योंकि अमुक योग्य १
व्यावहारिक व्यक्ति ने उसका भार उठा लिया है। प्रकृत में होता—'साधु ते' इत्यादि मन्त्रद्वारा यजमान को कर्मनिष्ठा का ही प्रेरणाबल प्रदान कर रहा है।

यजमान का आत्मविश्वास भी तो यज्ञ सफलता के अन्यान्य कारणों में से एक अन्यतम कारण है। इसी भावना का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—"साधु ते यजमान देवता यस्य तेऽग्निर्होता" इत्यदेतदाह ।

मन्त्र का अगला भाग है—"घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्व"। यह वाक्य अध्वर्यु को लक्ष्य बना कर कहा जाता है। अग्नि के अनुग्रह प्राप्ति का अर्थ है—अग्नि देवता का यज्ञसीमा में प्रविष्ट हो जाना। 'होत्र कर्म को आप लक्ष्य बनाकर यज्ञ का लक्ष्य बनाए, यजमान! तुम्हारा यह कार्य सफल हुआ समझो, जहाँ अग्नि उसे होता ने अनुग्रह कर दिया' इस भावना को व्यक्त करने वाले निगद मन्त्र भाग से अवश्यमेव प्राणाग्नि यज्ञमण्डल में प्रविष्ट हो जाते हैं। आगत अग्निदेव की परिचर्या उसी व्यवहारसम्प्रदाय की भाँति आवश्यक है, जैसे आगत सम्मान्य अतिथि का अर्घ्यदानादि से सम्मान किया करते हैं। अग्निदेव की परितृप्ति से सम्बन्ध रखने वाली आज्याहुति है। यह आहुतिकर्म अध्वर्यु से सम्बन्ध रखता है। अतएव अनुग्रह प्राप्त्यनन्तर होता का यह भी आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि, वह आगत सम्मान्य अतिथि के स्वागत से सम्बन्ध रखने वाले आज्याहुति कर्म की ओर आहुतिप्रदाता अध्वर्यु का ध्यान आकर्षित कर दे। एकमात्र इसी अभिप्राय से 'अध्वर्यो! आप घृतवती स्रुक का ग्रहण करें (क्योंकि आहुति ग्राहक अग्निदेव पधार आए हैं)' यह प्रेरणात्मक मन्त्र भाग प्रयुक्त हुआ है जिसका तात्पर्य—'अध्वर्यु प्रसीति' इस ब्राह्मण वचन से स्पष्ट हुआ है।

पद्धतिप्रकरण में यह कहा जा चुका है कि, होता के मुख से 'पूर्ववताम्' इत्यादि के उच्चरित होते ही अध्वर्यु जुहू उपभृत् नामक दोनों स्रुचों को आहुति के लिए हाथ में ले लेता है। ग्रहण होता है जुहू उपभृत् दोनों का। परन्तु होता द्वारा ग्रहण की प्रेरणा होती है—केवल एक (जुहू) स्रुक् की ही। ऐसा क्यों ?। जब पद्धति में दोनों का ग्रहण विहित है, तो मन्त्रभाग में भी 'घृतवत्यौ स्रुचौ' इत्यादि रूप से द्विवचन का ही प्रयोग होना चाहिए था। इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि—(१)—निदानविद्या के अनुसार जुहू नामक स्रुक् यजमानस्थानीया है, उपभृत् नामक स्रुक् यजमान के शत्रु की प्रतिकृति है। इसके अतिरिक्त जुहू अत्ता की प्रतिकृति है तो उपभृत् आद्य (भाग्य) की। ऐसी स्थिति में यदि होता 'जुहूपभृतावास्यस्व' इत्यादि रूप से द्विवचन का प्रयोग करेगा

तो यजमान का शत्रु यजमान के लिये प्रतिस्पर्द्धा करनेवाला बन जायगा। इसके अतिरिक्त भोग्य सम्पत्ति भी भोक्ता यजमान के लिये प्रतिकूल बन जायगी। भावनात्मिका यज्ञकर्मक्रियाओं का फलाफल एकमात्र भावना पर ही अवलम्बित है। एवं इन भावनाओं के मूलाधार उसी प्रकार आधिभौतिक यज्ञिय द्रव्य हैं, जैसे कि उपासनाकाण्ड में उपास्य प्राप्ति के लिये उपास्य के यत्किंचित समधर्मों से समन्वित आधिभौतिक पदार्थों में आहार्य्यारोपविधा से उपास्य की कल्पना की जाती है। इसी आहार्य्यारोपविधा के आधार पर उपभृत् को शत्रुभावना से, एवं भोग्यभावना से युक्त समझा जाता है। जुहू को यजमान भावना से, तथा भोक्ता भावना से युक्त मान लिया जाता है। उपभृत् को जुहू की तुलना में रखना शत्रु को समान बलशाली बनाना है, भोग्य को प्रतिकूल बनाना है। यह भावना यजमान के लिये अनिष्टकर बनती है। अत एकवचन का ही प्रयोग किया जाता है। ग्रहण होता है दोनों का, प्रेरणा मिलती है एक के ग्रहण की। यही—'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' लक्षण आहार्य्यारोपमूला प्रत्ययालम्बनता है, जिसका गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत तृतीय खण्ड के 'ख' विभागात्मक 'उपासनोत्तर खण्ड' के—'उपासनाभेदनिर्वचन' नामक प्रकरण में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। इसी भावना को व्यक्त करती हुई श्रुति कहती है—'तस्मादेकामिवाह' ॥२॥

मन्त्र का अगला भाग है—'देवयुवा विश्ववाराम्'। 'अध्यात्म गत प्राणदेवताओं का आधिभौतिक तत्सम पदार्थों के माध्यम से आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ विच्छिन्न अन्तर्याम सम्बन्ध करा देना ही यज्ञ का फलितार्थ है'। होतृकत्वृ के निगद पाठ से प्राणाग्नि का यज्ञमण्डल में समावेश तो हो गया है। परन्तु अभीतक इनका यजमान के आध्यात्मिक प्राणदेवताओं के साथ ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध नहीं हुआ है। यह काम भूम्यस्था आधिभौतिकी आज्याहुति पूरा करती है। जुहू नामक स्रुक्पात्री भी आधिभौतिक पदार्थ है, आहुति के लिए जुहू में प्रतिष्ठित आज्यमात्रा भी आधिभौतिक ही है। इन दोनों आधिभौतिक द्रव्यों पर यज्ञकर्त्ता यजमान का स्वत्व है, ममत्व है। दोनों पर यजमान की भूतात्मसत्ता आक्रान्त है जिस विज्ञानुगता आत्मसत्ता के लिये—'यावद्वित्तं तावदात्मा' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। निष्कर्षतः आज्यपूर्ण जुहू में यजमान के प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। इधर आहवनीय कुण्डस्थ समिद्ध अग्नि में द्युलोक

से आगत आधिदैविक प्राणाग्नि प्रतिष्ठित हैं। इनमें आज्याहुति होती है। परिणाम यह होता है कि, आज्यानुगत यजमान के प्राणदेवताओं का आज्याहुति द्वारा आहवनीयस्थ प्राणाग्नि के साथ ग्रन्थिबन्धन हो जाता है। इस प्रकार आज्यपूर्ण जुहू यजमान प्राण का प्राकृतिक प्राणदेवताओं के साथ योग करानेवाली बन रही है। यही देवयुवा रूप महिमा धर्म है। यच्चयावत् (११) प्राणदेवताओं के द्वारा यह जुहू (आज्य सम्बन्ध से) वरणीय है। सभी प्राणदेव इसकी इच्छा रखते हैं। देवप्रिया, देवयुवा, जुहू वास्तव में यज्ञकर्त्ताओं के लिये स्तुत्या है, प्रशंसनीया है। मन्त्रभाग द्वारा जुहू के उक्त दोनों धर्म्मों का विश्लेषण हुआ है, साथ ही इस की स्तुति, एवं प्रशंसा हुई है। सर्वत्र चैतन्य का साक्षात्कार करने वाली ऋषिदृष्टि के लिए जुहू की स्तुति प्रशंसा अवश्यमेव तत्त्वविज्ञान सम्मत है।

मन्त्र का अगला भाग है—"ईडामहै देवाँ ३॥ ईडेन्याम्, नमस्याम नमस्याम्, यजाम यज्ञियान्"। ज्योतिम्मय तत्त्व ही 'देवता' है। यह ज्योतिर्भाग पृथिवी, अन्तरिक्ष द्यौ, इन तीन लोकों के भेद से तीन स्थानों में विभक्त होता हुआ विभिन्न तीन नाम रूप-गुण-कर्म्मों में परिणत हो रहा है। तीनों में मूलतत्त्व द्युलोकस्थ सौरप्राणमूर्त्ति देवतत्त्व ही है। सौरज्योतिर्भाग (प्रकाश) सर्वप्रथम अन्तरिक्ष लोकोपलक्षित सौम्यचान्द्रपिण्ड में भुक्त होता है। चान्द्रमसी ज्योति वस्तुगत्या भुक्त सौरी ज्योति ही है। द्वितीयस्थान पृथिवी लोक है। यहाँ आकर भूतभाग के आत्यन्तिक आवरण से सौरज्योति का क्षत्रज्योतिर्भाग, तथा चान्द्र ज्योति का परज्योतिर्भाग दोनों अभिभूत हो जाते हैं। अतएव पार्थिवी ज्योति केवल रूपज्योति कहलाई है। रूपज्योति में (पार्थिवी ज्योति में) उस पार्थिव प्राणाग्नि का समावेश है जोकि—वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध है, जिसे कि यजुः संहिताने 'विराट्पुरुष' कहा है जिससे कि, 'पुरुष-अश्व-गौ अवि अज' इन पांच यज्ञियपशुओं का स्वरूप निर्म्माण हुआ है, जो कि पुरुष (मनुष्य) पशु में अपनी पूरी मात्रा से विकसित है। यही वैश्वानराग्नि भूताभिभव से अप्रत्यक्ष है, भूम्य भाग है। अतएव —'कृष्णोऽस्याखरेष्ठः' इत्यादि रूप से इस पार्थिव अग्नि को कृष्णमृग नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। इस कृष्णमृगाग्नि की सहयोगिनी रूपज्योति दूसरे शब्दों में पार्थिवप्राणाभियुक्त दिव्यप्रकृत ज्योतिर्भाग ही पार्थिवदेवता है। आन्तरिक्ष्य चान्द्रमसावच्छिन्न विशुद्ध ज्योतिर्म्मय भाग

जाते हैं साथ ही यज्ञ में अन्यामक प्रजा के व्यवहारों में भी उनका विशेष उप योग नहीं होता। मनुष्य यदि यज्ञिय है, तो किंपुरुष अयज्ञिय है। एवमेव अश्व, गौ, अवि, अज, चारों यज्ञियप्रजाओं के प्रतिकूल क्रमश गौर गवय उष्ट्र, शरभ ये चार अयज्ञिय प्रजा हैं। एवमेव बक्रा, वगया, चरपादा, यह प्रजात्रयी भी—प्रजा ह विद्या अरयायमीयु के अनुसार पराभूता है, यही नन्यामत्का है। मापादि मापधियाँ अयज्ञिय हैं। इन अयज्ञिय, अतएव पराभूत पदार्थों के अतिरिक्त जितने भी स्थिर चर यज्ञिय पदार्थ हैं उक्त सगन्धी से उन सब का ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार ईडन्य मानव सर्ग से अश्वादि यज्ञिय पशुओं का यज्ञिय देवसर्ग से कपिञ्जलादि पक्षियों का व्रीहि यवादि ओषधियों का पलाश कार्ष्म-र्यादि वनस्पतियों का और ओर भी जितने यज्ञिय पदार्थ बच रहते हैं, उन सब का ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार—'जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्य' निगमानुसार यथायथम् यज्ञिय पदार्थों का यज्ञ से ग्रहण हो जाता है। फलत: यज्ञ का इष्टकामधुकत्व सर्वात्मना चरितार्थ हो जाता है। यही यज्ञ की वह महामहिमा अनुत्तम कर्मत्व है जिसे लक्ष्य बनाते हुए याज्ञिक लोग इस में प्रवृत्त हुआ करते हैं। जिन्होंने यज्ञ का अनुगमन किया उन्हें सब कुछ मिल भी गया साथ ही उन का पराभव भी न हुआ। जिन्होंने यज्ञ का तिरस्कार किया उनकी सत्ता ही उच्छिन्न हो गई॥ ४॥

यज्ञ पद्धति में विहित प्रत्येक आधिभौतिक कर्म्म से यजमान के मानुषात्मा में कोई न कोई यज्ञातिशय उत्पन्न किया जाता है। यज्ञकर्म्मसमष्टि से वह यज्ञा तिशय सर्वाङ्गीण बनता हुआ यजमान के मानुषात्मा के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध करता हुआ उस आधिदैविक फलानुगामी बनाता है। यही यज्ञातिशय दैवात्मा' कहलाया है जिस का स्वरूप विश्लेषण पूर्व ब्राह्मणों में अनकधा हो चुका है। *तत्तत् कर्म्मविशेषों से इस यज्ञातिशयलक्षण दैवात्मा में तत्तत् शारीर हस्तपादादि* अवयव ही स्थापित किए जाते हैं। प्रश्न होता है कि, सब व्याहृत्यात्मक इस चातुर्मास्य कर्म्म से (जिन नौ व्याहृतियों का मूलानुवाद में भी उल्लेख किया जा चुका है) दैवात्मा में कौन से शारीरावयव स्थापित किए जाते हैं ?। ५ वीं कण्डिका इसी प्रश्न का समाधान कर रही है। हमारी अध्यात्मसंस्था के पाञ्च भौतिक शरीरभाग में उष्म, अवाष्प भेद से और पार्थिव या जाति के प्राण

प्रतिष्ठित है। सौर प्राण का केन्द्र ब्रह्मरन्ध्र है पार्थिव अपान प्राण का केन्द्र ब्रह्मग्रन्थि है। ब्रह्मरन्ध्र में प्रतिष्ठित सौर प्राण ऊर्ध्वाकर्षणात्मक है। इससे अर्करूप जो सात अवान्तर प्राण निकलते हैं, वे ही [illegible] (साथ रहने वाले) सप्त शीर्षण्य प्राण कहलाते हैं। दो श्रोत्रप्राण दो चक्षुप्राण, दो नासाप्राण, एक मुखप्राण, इस प्रकार सातों में ६ प्राण तो युग्मप्राण हैं, जोड़े हैं सातवां मुख्यप्राण एकाकी है *। इसी प्रकार ब्रह्मग्रन्थि में प्रतिष्ठित पार्थिव अपान प्राण अधःप्राण है। इस से निकलने वाले अर्कात्मक प्राण दो भागों में विभक्त हैं। ये ही क्रमशः उपस्थ प्राण गुदप्राण नामक अवाञ्च प्राण हैं †। सम्भूय दो के अवान्तर नौ प्राण हो जाते हैं। स्रुगादापन निगद में पठित नौ व्याहृतियों से निगदमन्त्रभागानुगता संख्या सम्पत्ति के समतुलन से ब्रह्मरन्ध्र में सप्तशीर्षण्य सौर प्राण दो अवाञ्च पार्थिवप्राण इन नौ प्राणों का ही आधान होता है। क्यों नौ व्याहृतियाँ होती हैं? प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥५॥

इति-स्रुगादापनकर्मोपपत्तिः

— १ —

२—आश्रावण प्रत्याश्रावणकर्मोपपत्ति

होतृकर्तृक स्रुगादापन कर्म के अनन्तर अध्वर्यु आग्नीध्र द्वारा ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के सहयोग से आश्रावण प्रत्याश्रावण कर्म की इतिकर्तव्यता सम्पन्न होती है। एक वैज्ञानिकी आख्यायिका द्वारा इसी कर्म की उपपत्ति का (६ टी कण्डिका से) स्पष्टीकरण हुआ है। वसन्त ग्रीष्म-वर्षा शरद हेमन्तशिशिर— (हेमन्तशिशिरयोः समासेन) इन पांच ऋतुओं का स्वरूप अग्नीषोमात्मक माना

---

* साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥
—ऋक् सं. १।१६४।१५।

गया है। अग्निसोम के उद्गाम निगाम (चढ़ाव-उतार) से ही पञ्चर्तु का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। अग्नीषोममयी पाँचों ऋतुओं की समष्टि ही 'सम्वत्सर' है, यही यह यज्ञ है जिसके द्वारा सूर्य्यकेन्द्रस्थ हिरण्यगर्भ प्रजापति रोदसी त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित चर अचर प्रजा का स्वरूप निर्म्माण किया करते हैं। इस प्राजापत्य-अग्नीषोममयी यज्ञमात्रा का प्रजासर्ग से प्रतिक्षण विस्रंसन हुआ करता है। प्रजा स्वरूप निर्माण में साम्वत्सरिक अग्नि-सोम मात्राओं का उपादान कारणता के सम्बन्ध से व्यय होना अनिवार्य्य है। यही व्ययभाव 'विस्रंसन' कहलाया है। इसी विस्रंसन को लक्ष्य में रख कर यह कहा जासकता है कि, सौरमण्डलस्थ विश्वदेवताओं का अग्नीषोममय यज्ञ सौरमण्डल से अपक्रान्त हो गया। तात्पर्य्य, पार्थिव प्रजासर्ग निर्म्माण के लिए सौर देवयज्ञ की अपक्रान्ति स्वाभाविक है।

यह यज्ञापक्रान्ति नियतापक्रान्ति, अनियतापक्रान्ति, भेद से दो भागों में विभक्त मानी जा सकती है। सौरसम्वत्सरमण्डलावच्छिन्न ज्योतिर्भाग ही अग्नीषोमात्मक यज्ञ है। प्रत्यक्षदृष्ट सौर प्रकाश ही इस यज्ञ का बाह्य शरीर है। दाहक अग्नि में दाह्य पारमेष्ठ्य सोम आहुत हो रहा है। इसी सोमाहुति प्रक्रिया से इस उभयात्मक यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। इसी यज्ञ से (सोमाहुति से) 'रन ज्योतिषा विभमा वयपे इत्यादि ऋग्वर्णनानुसार प्रकाश का जन्म हुआ है। प्रकाश में अग्नि सोम दोनों का समन्वय है, अतएव अवश्य ही सौर प्रकाश मण्डल को यज्ञ कहा जा सकता है। यह सौर ज्योतिर्भाग सर्वत्र (लोकालोक-पर्य्यन्त) व्याप्त रहता हुआ हमारे भूपिण्ड की ओर भी आ रहा है। भूपिण्ड के विष्कम्भ (व्यास) की उभय परिधियों से सम्बन्ध रखनेवाला सौर ज्योतिर्भाग ही महत् में 'यज्ञ' शब्द से व्यवहृत हुआ है। भूपिण्ड-परिधि को काटकर यह (प्रकाश) भूपिण्ड से आगे निकल जाता है। इसी सौर प्रकाश विक्षेप से 'सैंहिकेय' नामक छायामय-तमोमय राहु का जन्म हुआ है। भूपिण्ड की ओर सौरमण्डल से नियत रूप से आकर अपना नियताकार बनाने वाले यज्ञ की अपक्रान्ति ही नियतापक्रान्ति मानी जायगी। यज्ञ के इस नियतापक्रान्त रूप का ही नाम 'भर्गोदन' है जिससे किसी भी पार्थिव पदार्थ की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इसी नियतापक्रान्त यज्ञ से सम्वत्सर का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। जिसकी छान्दोग्यादि उपनिषदों में 'अश्व' रूप से स्तुति हुई है। सौर प्रकाश आता है,

भूपिण्ड से टकराकर वापस लौट आता है। दूसरे शब्दों में यज्ञ आता है, भूपिण्ड से संसृष्ट होकर वापस लौट जाता है। वापस लौटे हुए प्रकाशात्मक इस यज्ञ का आकार भूच्छाया (राहु) से समतुलित है। सूचीमुख राहु के आकार से समतुलित भूपृष्ठ से सूर्य्य पर्य्यन्त व्याप्त (वापस लौटकर व्याप्त होने वाला) सौर प्रकाश ही वह 'अश्व' है, जिसका ऊपा मस्तक माना गया है। इस नियतापक्रान्ति से सम्बद्ध पुनर्गमन से सम्बन्ध रखने वाला यज्ञात्मक अश्व, किंवा अश्वात्मक यज्ञ प्रकृत आख्यान में अभिप्रेत नहीं है। अपितु यहाँ अनियतापक्रान्ति से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञ का ही ग्रहण हुआ है।

नियतापक्रान्ति-पुनर्गत स्थिर प्रवर्ग्यलक्षण (सूर्य्य के सामान्य स्वरूप) सम्वत्सरयज्ञ से यज्ञमात्रा का विस्रसन होता रहता है जिसका तापोत्सर्ग से प्रत्यक्ष किया जा सकता है। सूर्य्य अस्त हो जाता है, फिर भी हवा में गर्मी बनी रहती है। यह गर्म्मी (अग्नि जिसके गर्भ में अग्नि स्वरूपरक्षक सोम भी प्रतिष्ठित है) विस्रस्त वह यज्ञमात्रा है जिसे 'प्रवर्ग्य (उच्छिष्ट) कहा गया है। 'उच्छिष्टात्-अधिर मध्यम्' इस आथर्वण सिद्धान्तानुसार इस विस्रस्त प्रवर्ग्य भाग से ही पार्थिव प्रजा की स्वरूप निष्पत्ति होती है। पार्थिव चान्द्र परिभ्रमण के अनुसार-तत्तत्-ऋतु विशेषों में प्रयुक्त तत्तद्यज्ञमात्राओं के प्रवर्ग्यभाग से तत्तद्विशेष पार्थिव पदार्थ उत्पन्न हुआ करते हैं। बस जो प्रवर्ग्यभाग तत्तद्विशेषभावोत्पत्ति में तत्तत्समयविशेषों से सम्बन्ध रखता है वही उस सौरयज्ञ की अनियतापक्रान्ति है। एवं प्रकृत आख्यायिका में अनियतापक्रान्तिलक्षण इसी प्रवर्ग्य यज्ञ का ग्रहण हुआ है। कल्पना कीजिए यदि प्राकृतिक सौर सम्वत्सर यज्ञ की सम्पूर्ण मात्रा पार्थिवप्रजासर्ग में ही उपयुक्त हो जाय तो सम्वत्सरमण्डल, एवं उसमें रहने वाले ज्योतिर्मय दिव्य देवताओं की क्या दशा हो? कल्पना यही उत्तर देगी कि, क्रमश विस्रसन से तो एक दिन वह समय आसकता है कि, सम्वत्सर का ही उच्छेद हो जाय। मानना पड़ेगा कि, अवश्य ही विस्रस्तभाग की क्षतिपूर्ति भी इसी अनुपात से होती रहती है। यदि सौर पदार्थ पार्थिवसर्ग निर्म्माण में खर्च होते रहते हैं, तो—'प्रदाना द्वा ते-(देवा उपजीवन्ति) इत्यादि श्रौत सिद्धान्तानुसार पार्थिव पदार्थों के विस्रस्त भाग के गमन से वह कमी पूरी भी होती रहती है। यदि पृथिवी लेने लगती है, तो वह भी पृथिवी को आता रहता है। परस्परमनुगत यह आदान प्रदान, अभाभावमात्र ही तो उभयलोक, किंवा सबलोक प्रतिष्ठा बन रहा है।

सौरदेवताओं के स्वरूपरक्षक यज्ञ की प्रवर्ग्य द्वारा अपक्रान्ति अवश्य होती रहती है। परन्तु सृष्टि नियमानुसार अपक्रान्त यज्ञ वापस भी लौट आया करता है। 'यो मा ददाति स इ देवमावत्' सिद्धान्तानुसार जो हमें देता है, वही अन्त में हमें पा भी जाता है। प्राणाग्निरूप होता प्राणवायुलक्षण अध्वर्यु आदित्यप्राणात्मक उद्गाता, चान्द्रसोमात्मक ब्रह्मा, इत्यादि प्राकृतिक देवात्मक ऋत्विजों के व्यापार से अपक्रान्त यज्ञ पुनः स्वममत्व देवमण्डल की ओर लौट आता है। इसीसे देवस्वरूप-रक्षा हो रही है। यज्ञपुनर्गमन ही देवताओं का देवत्व है। इस प्रकार स्वस्वरूपस्थिति के लिए ऋत्विजों के सहयोग से सम्वत्सरयुक्त प्राणदेवता पृथिवी की ओर अपक्रान्त यज्ञ को वापस बुला लिया करते हैं। पुनरागत इस यज्ञ से यजन कर वे अपना देवत्व सुरक्षित रखने में समर्थ हो जाते हैं। प्रकृत आख्यान प्राकृतिक यज्ञ के इस प्राकृतिक गमनागमनभाव का ही स्पष्टीकरण कर रहा है ॥६॥

प्रकृत वैध यज्ञ का वितान उस प्राकृतिक नित्य यज्ञ की भित्ति पर ही हुआ है। जैसा, जो कुछ, वहाँ हो रहा है, वैसा वही सब कुछ यहाँ कल्पित है, जैसा कि—'देवानन्वु विधा वै मनुष्याः' यद् देवा अकुर्वस्तत् करवाणि इत्यादि निगम वचनोंसे प्रमाणित है। जिस प्रकार सौरमण्डलस्थ देववर्ग की अपेक्षा से यज्ञमात्रा पृथिवी की ओर अपक्रान्त हो रही है एवमेव हम पार्थिव प्रजाओं की अपेक्षा से यज्ञमात्रा सौरमण्डल की ओर अपक्रान्त हो रही है। जैसे उन्हें अपने स्वरूपनिर्माण रक्षा के लिए इस अपक्रान्त पार्थिव यज्ञ की अपेक्षा है, एवमेव हमें यजमान के स्वमाणमय दैवात्मा के स्वरूपनिर्माण रक्षा के लिए अपक्रान्त सौरयज्ञ की अपेक्षा है। 'आश्रावय' इत्यादि मन्त्रवाक् के द्वारा मनुष्यविध ऋत्विक् उस अपक्रान्त दिव्य यज्ञसम्पत् का स्व-वैध भौतिक यज्ञ में समावेश करने के लिए ही आश्रावण प्रत्याश्रावणकर्म्म करते हैं। अवश्य ही इस मन्त्रवाक् से अपक्रान्त दिव्ययज्ञमात्रा का इस वैध यज्ञ में समावेश हो जाता है। क्योंकि, 'ओश्रावय' इत्यादिलक्षण जिन व्याहृतियों का यहाँ प्रयोग होता है उनसे प्राकृतिक दिव्य यज्ञ ही लक्ष्य बन रहा है। आग्नीध्र का लक्ष्य बनाकर अध्वर्यु के मुख से निकले हुए ओश्रावय का तात्पर्य्य है—'देवताओं के लिए यज्ञ सुनाओ। अर्थात् देवता इस यज्ञ की ओर लक्ष्य दें ऐसी भावना करो। आग्नीध्र 'अस्तुश्रौषट्' से यही व्यक्त कर रहा है कि 'हाँ देवताओं ने सुन लिया'। जिसका तात्पर्य्य यही है कि, देवताओं का

(द्रव्यात्मक अपक्रान्त यज्ञ का) यहाँ पुनरागमन हो गया। इस प्रकार 'ओश्रावय' इत्याकारक आश्रावण दिव्यदेवात्मकयज्ञ का आह्वान कर रहा है, 'अस्तु श्रौषट्' इत्याकारक प्रत्याश्रावणकर्म उसका आगमन सूचित कर रहा है।

फलितार्थ यही निकलता है कि प्रकृत आ० प्र० कर्म्म अपक्रान्त दिव्ययज्ञ की प्राप्ति के लिए ही विहित है। मन्त्रभावनाद्वारा आगत भावात्मक देवप्राणमय यज्ञ ही इस वैधयज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है। इसी प्राकृतिक दिव्ययज्ञबल के आधार पर यजमान का यह वैध यज्ञ यज्ञातिशयरूप दैवासम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ होता है। ऋत्विज सहायक बनते हैं। ऋत्विज भी तभी इस प्राप्तिकर्म में सहायक बन सकते हैं जब कि वे इस उपायूत यज्ञरस को अपनी भावना में प्रतिष्ठित कर लेते हैं। ऋत्विजों की भावना ही या मुख्य है। यजमान तो सम्पूर्ण उत्तरदायित्व इन्हीं पर डाल देता है। अतएव यज्ञसम्पत्-संग्रहमूलक आश्रावण प्रत्याश्रावणकर्म में यजमान का समावेश करना अनावश्यक है। ऋत्विज ही भावनाद्वारा प्राप्त यज्ञ की स्वरूप रक्षा के लिए बड़े संयम से सम्प्रदायपूर्वक आश्रावण-प्रत्याश्रावण कर्म का अनुगमन करते हैं। सम्वत्सरप्रजापति स्वयं इस आश्रा कर्म्म में परोक्ष रहते हैं। तद्यज्ञभूत तद्रस से परिपुष्ट अग्न्यादि देवता ही इस कर्म की इति कर्त्तव्यता पूरी करते हैं। अतः प्रजापतिस्थानीय यजमान भी यहाँ (इस कर्म्म में) परोक्ष ही रहता है। अग्न्यादि के प्रतिनिधि ऋत्विक् ही इस कर्म्म का अनुगमन करते हैं। जैसा वहाँ हो रहा है वैसा ही यहाँ होता है। इसी सर्वक्रिया की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए श्रुति ने कहा है—"तेनोपायूतेन रसमा मूलनर्त्त्विजः सम्प्रदाय भरन्ति यजमानेन परोक्षम्"।

ऋत्विजों के भावनात्मक मानस जगत् में अपक्रान्त दिव्य यज्ञसम्पत् का समावेश हो गया। सुनाकल्प महामहनीय द्रव्यमाण मूर्ति यज्ञभगवान का आगमन हो गया। अब यह आवश्यक है कि अपने इस भावनात्मक दिव्ययज्ञ के वितान के लिए ऋत्विक्गण पारस्परिक सहयोग से वाक् सम्प्रदान द्वारा वाक्तत्त्व का आश्रय लें। भावनात्मक मनोगर्भित प्राणतत्त्व यज्ञ का प्रातिस्विक स्वरूप है। यह मनोगर्भित प्राणयज्ञ भूतात्मिका वाक् के आधार पर ही प्रतिष्ठित रहता है। इस ओर मन है, उस ओर वाक् है, मध्य में दोनों से परिगृहीत प्राण है। प्राण यज्ञ है, मनोवाक् यज्ञाधार हैं। अतएव मनो

वाक् को यज्ञ की वर्त्तनी कहा जाता है। इस ओर ऋत्विजों की भावना (मन) है, उस ओर मन्त्रप्रयोग (वाक्) है। दोनों से मध्यस्थ प्राणात्मक यज्ञ यथाविधि परिगृहीत हो जाता है। यद्यपि यज्ञ का मौलिक स्वरूप प्राण ही है, तथापि एक विशेष हेतु से वाक् को ही यज्ञ का मौलिक स्वरूप मान लिया जाता है। वह विशेष हेतु यही है कि, प्राण बिना मनो वाक् के नहीं रहता। इधर वाक् से मनः प्राण वाक्, तीनों का ग्रहण हो जाता है जैसा कि वाक्-शब्दनिर्वचन से सुस्पष्ट सिद्ध है। उ अ अच् से वाक् शब्द निष्पन्न हुआ है। वकार प्राण का, अकार मन का वाचक है। उकार अकार (प्राण-मन) की स्वस्वरूपरक्षा के लिए कामना करने वाला तत्त्वविशेष ही अच्' से सूचित हुआ है।, इस प्रकार वाच् (वाक्) से तीनों का संग्रह हो जाता है। मनोगर्भित प्राणात्मक यज्ञ अपने केवल मनोमय प्राणरूप से तब तक व्यापार करने में असमर्थ बना रहता है, जब तक कि वह भूतमयी वाक् को भी अपनी वर्त्तनी नहीं बना लेता है। भूत ही प्राणव्यापार का आलम्बन बनता है। भूताधारेणैव प्राण् स्वबल प्रयोग में समर्थ होता है। अत एव श्रुति ने मनोगर्भित प्राणात्मक यज्ञ का रथ (बलप्रयोगसाधन) भी वाक् को ही माना है एवं यज्ञस्वरूप भी वाङ्मय ही माना है। यज्ञस्वरूपसम्पादिका वाक् में आधिभौतिक मर्त्यभाग, आधिदैविक अमृतभाग दोनों का समावेश है। मर्त्या वाक् का आधार अमृतावाक् है। अमृतावाक् का ही वितान होता है। इसी वितान से भूतयज्ञ भूलोक से द्युलोकपर्य्यन्त, पृथ से रथन्तर सामपर्य्यन्त वितत होता है। भौतिकी वाक् अमृतवाग्गर्भिता मर्त्या वाक् है। लौकिकव्यवहारसञ्चालन इसी वाक् से होता है। अलौकिकी वाक् मर्त्यवाग्गर्भिता अमृतावाक् है। वैदिककर्म्मसञ्चालन इसी वाक् से होता है। मर्त्या वाक् से व्यञ्जनात्मिका अनुष्टुप्वाक् समतुलित है। अमृता वाक् से उदात्त अनुदात्तादि स्वरात्मिका बृहतीवाक् समतुलित है। अतएव वैदिकी मन्त्रवाक् में तत्त्वानुगत स्वरों के अनुसार ही उदात्तादि स्वरों का सन्निवेश हुआ है। यह स्वरवाक् ही चूंकि सामासिका बनती हुई यज्ञवितान का कारण बनती है, इसलिए भी वाक् को ही यज्ञ कहना अन्वर्थ बनता है। वाक्तत्त्व के इसी यज्ञस्वरूपप्रतिष्ठात्मक भाव को लक्ष्य बनाकर श्रुति ने कहा है—"वाग् वै यज्ञ" वायु रथ. ।

देवाह्वानलक्षणा ओभावयेत्यादिस्वरूपा मन्त्रवाक् के द्वारा आग्र भृत्विजों को अपवर्गान्त यज्ञसम्पत् का सम्पादन करता है। प्राकृतिक सम्वत्सरयज्ञ के सप्तद अवयव माने गए हैं। "अग्निर्वै यज्ञः" इस निगमवचन के अनुसार सोमगर्भित अग्नि ही यज्ञ है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। भूकेन्द्र से आरम्भकर भूमहिमा के १७ वें अहर्गणपर्य्यन्त यह यज्ञाग्नि व्याप्त है। सत्रहवाँ स्थान ही आहवनीयकुण्ड माना गया है। इसमें प्रतिष्ठित प्राणाग्नि में १७ से ३३ पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले सोम की आहुति होती है। यज्ञाग्नि प्रज्वलित हो पड़ता है। प्रज्वलित होकर यह यज्ञाग्नि २१ वें अहर्गणपर्य्यन्त व्याप्त हो जाता है। २१ तक व्याप्त यज्ञाग्नि के ६—१५—२१—ये तीन विक्रम मान लिये जाते हैं। त्रिवृत (६) स्तोमात्मक प्रथम विक्रम पार्थिव है, पञ्चदश (१५) स्तोमात्मक द्वितीय विक्रम आन्तरिक्ष्य है, एवं एकविंश (२१) स्तोमात्मक तृतीय विक्रम दिव्य है। यज्ञ ही विष्णु है। यही त्रिविक्रम विष्णु है। वक्तव्य यही है कि, यज्ञाग्नि यद्यपि आहुति सम्बन्ध से २१ तक (सूर्यतक, क्योंकि—"एकविंशो वा इत आदित्यः" इत्यादि श्रुति के अनुसार सूर्य्यसत्ता भूपिण्ड से २१ वें अहर्गण पर ही मानी गई है) व्याप्त हो जाता है तथापि इसका मौलिक स्वरूप १७ वें अहर्गण पर्य्यन्त ही व्याप्त माना गया है। सप्तदशस्तोमावच्छिन्न यज्ञाग्नि के १७ अहर्गण ही १७ अवयव हैं। ये १७ हीं वाङ्मय अवयव बिना किसी विच्छेद के परस्पर एकरूपेण सम्बद्ध हैं। सप्तदशावयवों के अविच्छिन्न सन्तान भाव से सम्बद्ध यज्ञाग्नि का ही यहाँ समह अपेक्षित है। अत एव आवश्यक है कि, इतस्ततः दृष्टिपात न करते हुए, अन्य अप्रस्तुत वाक् का प्रयोग न करते हुए केवल मन्त्रवाक् लक्षण आश्रावण, प्रत्याश्रावण कर्म्म का ही अवधान पूर्वक एक दूसरे के प्रति यज्ञमात्रा समर्पित करते हुए यज्ञ के १७ अवयवों का अविच्छिन्न रूप से सम्पादन किया जाय। अविच्छिन्न-सन्तान परम्परा से सम्बन्ध रखने वाला सप्तदशावयव दिव्य यज्ञ अविच्छिन्न भावात्मक सम्प्रदानपरम्परा से उसी प्रकार परिपूर्ण—समृद्ध—सफल—बन जाता है, जैसे कि अविच्छिन्न सम्प्रदान से पूर्णपात्र जलपरिपूर्ण हो जाता है। भगवान शङ्कर के लिए सतत जल धारा अपेक्षित है। इस कर्म को सतत अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए शिवप्रतिमा के सान्निध्य में पार्श्व अथवा ऊर्ध्वप्रदेश में एक पाषाणमय जलकोश (हौज) बना दिया जाता है। सम्मिलित १०—५ व्यक्ति श्रद्धाभाव से उसे भर दिया करते हैं। दसों व्यक्ति कूप प्रदेश से जलकोशपर्य्यन्त नियमित रूप से खड़े हो जाते हैं। एवं

कवल मृद्घटों को लक्ष्य में रखते हुए तन्मयता से जल भरना आरम्भ कर देते हैं। एक दूसरे को क्रम वार अविच्छिन्नरूप से घट सौंपता जाता है। जलकोश परिपूर्ण हो जाता है। पारस्परिक अविच्छिन्न सम्प्रदान का यह एक लौकिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। अथवा तो—'यथा पूर्णपात्रं परासिञ्चेत्' का यह तात्पर्य भी लगाया जासकता है कि, जलपूर्ण पात्र का निरर्थक प्रदेश में उसे डालना है वैसे ही अप्रस्तुत वाक् से यज्ञ की परिपूर्णता नष्ट करनी है। सिद्ध काम्य को बिगाड़ देना और आश्रावण—प्रत्याश्रावण कर्म में अप्रस्तुत वाणी का प्रयोग करना समनुचित है। तद्वत् ही यहाँ भी यज्ञकोश-परिपूरक सप्तदशमात्राओं का अविच्छिन्नरूप से ही अनुगमन करना चाहिए, यही फलितार्थ है॥ ७॥

८,९,१०,११, इन चार कण्डिकाओं में उसी अविच्छिन्न-वाक्संयमानुगत-पारस्परिक सम्प्रदान कर्म की इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण हुआ है। १२,१३,१४, इन तीन कण्डिकाओं में सामयाग से सम्बन्ध रखने वाले वाक्संयम का प्रासङ्गिक निरूपण हुआ है। १५ वीं कण्डिका में उस दोष का विश्लेषण हुआ है जो सम्प्रदानधाराविच्छेद से एवं अप्रस्तुत वाक्प्रयोग से हुआ करता है। असावधानी करने से जैसे घट विनष्टि, पादभ्रष्टता आदि दोषों के कारण जलकोश अपूर्ण रह जाता है एवमेव यदि पारस्परिक सम्प्रदान में मूर्त्विक् लोग अन्यमनस्कता, अन्य असामयिक वाक् का प्रयोग कर डालेंगे तो यज्ञसन्तान विच्छिन्न हो जायगी। फलतः यज्ञस्वरूप न केवल साङ्गोपाङ्ग ही न बनेगा अपितु यजमान का महान अनिष्ट भी हो जायगा। अतएव इस अव्यवच्छिन्ना—सम्प्रदानपरम्परा का सावधानी से अनुगमन करना चाहिए। यह अवधानता केवल आश्रावण० कर्म के लिए ही आवश्यक हो, यह बात नहीं है। अपितु पुण्याधेयलक्षण यज्ञ कर्म से सम्बन्ध रखने वाले और और भी जो इष्टरूप कर्म हैं उन सब का भी यथाविधि अनन्यमनस्कता से ही अनुगमन करना चाहिए। संक्षिप्त विधि से हमें हमारे लौकिक कर्मों के सम्बन्ध में भी श्रुति यह आदेश दे रही है कि, यदि हमें कोई काम करना है उसे सर्वात्मना सफल बना देना है, तो अनन्यभाव से उसी को लक्ष्य में रखना चाहिए। हम अपने प्रज्ञापराध से मनोराज्य की चञ्चलता के अनुग्रह से संकल्पित कर्म के साथ साथ ही अन्यान्य संकल्प भी किया करते हैं। यही वह अवधान दोष है जिस के कारण प्रथमसंकल्पित अनुगमनीय कर्म में अपेक्षित वागूर्त्त (बल)

नहीं रहने पाता। फलत अधिकांश में हमें निराश ही होना पड़ता है। जो काम एकबार लक्ष्य पर चढ़ा लिया वहिह अनन्यमनस्कता के साथ यथयावत् अप्रस्तुत भावों का परित्याग करते हुए—उसी में जुट जाना चाहिए। अव्यवच्छेदमूला—साथ ही पारस्परिक सम्प्रदानात्मक सहयोगमूला ऐकमत्यभावासिका (संविदाना) ऐसी अनन्यमनस्कता ही कर्मसिद्धि का अन्यतमद्वार है जिस का—'एवमेव यज्ञो मर्त्त्य इत्यादि आदेश से विश्लेषण हुआ है ॥ १४ ॥ (८,९,१०,११,१२,१३,१४,१५)

आभावण प्रत्याभावण कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले निगद मन्त्र की पांच व्या हृतियां हैं। वर्ण, स्वर, पद, वाक्य भद से शब्दात्मिका वाक् के चार विवर्त्त मान गए हैं, जैसा कि 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' इत्यादि एतरय श्रुति से प्रमाणित है। इन्हीं चारों वाग्विवर्त्तों के लिए वद में क्रमश क्षर (वर्ण), अक्षर (स्वर), व्याहृति (पद), पुरुष [वाक्य] ये शब्द व्यवहृत हुए हैं। वैय्याकरण सम्प्रदाय में जिस के लिए 'अखण्डवाक्यस्फोट' वाक्य व्यवहृत हुआ है वही वैदिक सम्प्रदाय पुरुष है। प्रत्येक वाक्य में वर्ण, स्वर पद, तीनों विवर्त्तों का समा वेश रहता है। ऐसा कोई भी उच्चारण नहीं जो वाक्य न माना जासकता हो। ऐसा कोई भी वाक्य नहीं जिसमें वर्ण-स्वर पद का समन्वय न हो। यदि किसी व्यक्ति के 'क्या देवदत्त यहां है ? इस प्रश्नोत्तर में हम केवल 'न' इस एक अक्षर का प्रयोग करते हैं तो यहां भी एकाक्षर वाक्य विद्यमान है। 'न' कार में वर्ण स्वर पद अन्तर्निगूढ़ हैं अतएव उनकी प्रतीति नहीं होती। प्रतीति हो रही है—उस चौथी वैखरी वाक् की जिस का हम प्रयोग किया करते हैं—'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति'। चारों विवर्त्तों में 'पद' विवर्त्त ही व्याहृति है। प्रकृत निगद मन्त्र के चूंकि पांच पद हैं अतएव इन्हें 'व्याहृति' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है यही वक्तव्य है।

दिव्य यज्ञ अग्निमय है एष—वास्य वा एतत्स्याग्नेर्यागवापनियम (शत० १०। ५।१।१।) इत्यादि श्रौत सिद्धान्तानुसार यह अग्निमन्न वाङ्मय है। वाङ्मय अग्निलक्षण यज्ञ के स्वरूप निर्म्माण के लिए पञ्चव्याहृत्यात्मक निगदमन्त्र का प्रयोग हुआ है। प्रश्न स्वाभाविक है कि, इस प्राकृतिक वाङ्मय यज्ञ के स्वरूप संपद के लिए पञ्चव्याहृत्यात्मक ही वाङ्मय मन्त्र क्यों विहित हुआ ?। प्रश्न का अनेक दृष्टिकोणों से समन्वय किया जासकता है।

(१) पहिले आध्यात्मिकपक्ष की दृष्टि से ही समन्वय कीजिए। अध्यात्म-संस्था की उत्पत्ति अधिदैवतगर्भित अधिभूत से हुई है। अधिदैवत लक्षण सर्वहुत यज्ञ ही सम्पूर्ण विश्व की मूलप्रतिष्ठा है। विश्वजनक यह यज्ञ प्राण, आपः, वाक्, अन्न, अन्नाद भेद से पञ्चपर्वा है। पञ्चपर्वा इस आधिदैविक यज्ञ से उत्पन्न आधिभौतिक विश्वयज्ञ के स्वयम्भू (आकाश) परमेष्ठी (वायु), सूर्य (तेज), चन्द्रमा (जल), पृथिवी, ये पांच महा पर्व हैं। इस प्रकार जनक सर्वहुत यज्ञवत् तज्जन्य विश्वयज्ञ की भी पञ्चावयवता स्पष्ट है। इस पञ्चावयव विश्व यज्ञ (आधिभौतिक यज्ञ) से समुत्पन्न अध्यात्मसंस्था के आत्मा शरीर इन्द्रियवर्ग, ये तीन विवर्त्त हैं, आत्मा मूलाधार है यही प्राणसत्य है। इसके अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, भूतात्मा ये पांच विवर्त्त हैं। शरीर भूतसत्य है। इस के पृथिव्यादि पांचों पर्व प्रसिद्ध ही हैं। इन्द्रियवर्ग देवसत्य है। इस के भी वाक्—प्राण—चक्षु—श्रोत्र—मन, ये पांच ही विवर्त्त हैं। इस प्रकार अधिदैवत यज्ञ अधिभूतयज्ञ एवं उभययज्ञ से सम्पन्न अध्यात्मयज्ञ के आत्मा—शरीर—इन्द्रिय तीनों विवर्त्त सभी प्रकृत्या पाङ्क्त बन रहे हैं। 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' न्याय से इस वैध यज्ञ में भी वही प्राकृतिक पञ्चपाङ्क्तता अभिप्रेत है। इस आध्यात्मिकदृष्टि से भी आ म क्रम में पांच व्याहृतियों का प्रयोग करना अन्वर्थ बन रहा है।

(२) दूसरी दृष्टि से पाङ्क्तता का समन्वय कीजिए। प्रस्तुत यज्ञ सोमयाग का अङ्ग है। सोमयाग का स्तौम्य त्रिलोकी से सम्बन्ध है। पार्थिव स्तौम्य त्रिलोकी के त्रिवृत पञ्चदश सप्तदश एकविंश त्रिणव त्रयस्त्रिंश [९—१५—२१—२७—३३] ये पांच स्तोम माने गए हैं। पांचों में क्रमशः अग्नि वायु आदित्य, भास्वरसोम दिक्साम ये पांच देवता प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं पांचों से क्रमशः वाक् [अग्नि], प्राण [वायु], चक्षु [आदित्य], मन [भास्वरसोम], श्रोत्र [दिक्साम], इन पांच आध्यात्मिक इन्द्रियदेवताओं का स्वरूप निर्माण हुआ है। पांचों स्तौम्य देवताओं में आरम्भ के तीन देवता (अग्नि-वायु-आदित्य) अग्निप्रधान हैं। एक ही अग्नि की ध्रुव—घन—तरल—विरल) अवस्थाएं क्रमशः अग्नि, वायु आदित्य हैं। अन्त के दो देवताओं की (दिक्साम, भास्वरसोम की) सामता स्पष्ट ही है। फलतः पांचों का अग्नि साम में पर्यवसान सिद्ध हो जाता

है। अग्निसोमसमन्वितरूप ही यज्ञ है। इसके एवंविध पाँच अवान्तरविवर्त्त हैं। इस पांक्त सोमयाग के अङ्गभूत (अतएव 'प्राक्सौमिक' नाम से प्रसिद्ध) प्राकृत के इस इष्टियज्ञ में भी उसी सोमयाग के पांक्त धर्म्म का सम्बन्ध उपस्थित हो जाता है। एवं पञ्चप्राहुति-सम्बन्ध से यह अपेक्षा भी सफल हो रही है।

(३) तीसरे दृष्टिकोण से समन्वय कीजिए। यज्ञ को पूर्व में वाङ्मय बतलाया गया है। वाङ्मय यज्ञ का रेत वाक्तत्त्व ही है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर महिमा पर्य्यन्त इस वाङ्मय के अवान्तर ३३ विवर्त्त हो जाते हैं, जोकि—'त्रयस्त्रिंशत्तन्तवो ये वितत्निरे' इत्यादि मन्त्र वर्णनानुसार 'तन्तुदेवता' कहलाए हैं। इन ३३ अहर्गणात्मक तन्तु देवताओं में ३ अहर्गणात्मक तीन देवता (अग्नि-विष्णु-इन्द्र) मुख्य हैं। शेष ३० रह जाते हैं। इन के ६—६ के स्तूप से पाँच विभाग हो जाते हैं। ३३ वाँ का इन्द्र-अग्नीषोम का विभाजक '१७ वाँ अहर्गण है। ये ही ५ विभाग हैं। इस प्रकार एक ही वाक् के गौरूप सूक्ष्मतम १००० विवर्त्तों के पहिले ३०—३० गौ के सम्बन्ध से ३३ सूक्ष्म विभाग होते हैं, अन्त में ६ स्थूल विभाग माने लिए जाते हैं। यह उसी वाक् तत्त्व का पदाक्षरण लक्षण वषट्कार है। वाक् वेदकार ही वषट्कार है। वषट्कार मण्डल ही वाक् का प्रातिस्विक स्वरूप है। इसका ३३ वाँ अहर्गण ही अग्नीषोमात्मक पार्थिव यज्ञ की अन्तिम सीमा है। इस 'वौषट्' रूप वषट्कारयज्ञ (वाग्यज्ञ) की अन्तिम सीमा के (३३ के) गर्भ में क्रमशः २७-२१-१७-१५-९-ये पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं। छठा स्वयं ३३ वाँ है। यज्ञसम्पत् का इस ६ ठे वषट्कारपर्व से ही सम्बन्ध है, जिस के गर्भ में पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं। यज्ञ के इन पाँचों पर्वों के संग्रह के लिए भी पाँच व्याहृतियों का ग्रहण अन्वर्थ बन रहा है। 'ओ श्रावय' से त्रिवृत् (९) का, 'अस्तु श्रौषट्' से पञ्चदश (१५) का, 'यज' से सप्तदश (१७) का, 'ये यजामहे' से एकविंश का, 'वौषट्' से सप्तविंश (२७) का एवं समष्टिरूप ६ ठे वषट्कार लक्षण त्रयस्त्रिंश (३३) का ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से यज्ञ की पांक्तता का समर्थन किया जा सकता है। पांक्त यज्ञ से उत्पन्न पशुगण भी पुरुष, अश्व, गो, अवि, अज, भेद से पाँच विवर्त्तों में ही विभक्त हैं। पांक्तसोमयाग से सम्बन्ध रखने वाले सम्वत्सर यज्ञ का स्वरूप भी वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, भेद से पञ्चपर्वा ही बना हुआ है। अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु अयन, सम्वत्सर, भेद से भी सम्वत्सरयज्ञ की पांक्तता स्फुट

है। इसी पाङ्क्तता के आधार पर अग्निहोत्र (अहोरात्र) दर्शपूर्णमास (पक्ष), चातुर्मास्य (ऋतु), पशुबन्ध (अयन), महायाग (संवत्सर), इस प्रकार वैध मानुष यज्ञ के पांच पर्व प्रतिष्ठित हैं। प्राकृतिक यज्ञ की इसी पाङ्क्त-सम्पत् प्राप्ति के लिए प्रत्येक कर्म सम्पादक निगदमन्त्र में पांच व्याहृतियों का समावेश हुआ है ॥ १६ ॥

सर्वसाधक यज्ञ ही प्रजापति है। 'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' इस निगम के अनुसार यज्ञात्मक प्रजापति ही अपने विज्ञत्व भाग से सब कुछ बना हुआ है। इस प्रजापति के स्थिति भेद से अनिरुक्त, स्तुगीय, सर्व, ये तीन विवर्त हो जाते हैं। पिण्ड और पिण्डमहिमा, प्रत्येक वस्तुतत्त्व में ये दो मुख्य पर्व माने गए हैं। पिण्ड ह्रस्व है, पिण्डमहिमा दस्य है। पिण्ड-केन्द्रावच्छिन्न तत्त्व अनिरुक्त प्रजापति है महिमा-केन्द्रावच्छिन्न तत्त्व स्तुगीय प्रजापति है। एवं महिमा मण्डल की रथन्तरसामात्मिका स्तुत्य नाम्नी अन्तिम परिधि से सम्बन्ध रखने वाला तत्त्व सर्वप्रजापति है। पिण्डाधारेण प्रतिष्ठित महिमामण्डल वही पूर्वपरिचित पञ्च दूकार मण्डल है जिस के ३३ अहर्गण बतलाए गए हैं। वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि १—३० गौ का एक एक अहर्गण होता है। फलतः १००० गौ के ३०—३० के विभाग से (९९० में ही) ३३ अहर्गण पूर्ण हो जाते हैं, १ गौ शेष रह जाती है। यही अन्तिम चौंतीसवां सर्वप्राजापत्यस्थान माना गया है। इसी के लिए 'चतुस्त्रिंश प्रजापतिः' कहा जाता है। जिस कर्म में येन केन रूपेण ३४ संख्या का समावेश हो जायगा वह कर्म सङ्ख्या-समतुल्यमात्र से सर्वप्राजापत्य सम्पत्ति से युक्त हो जायगा। जिस कर्म में सर्वथा प्रांशुभाव का समावेश होगा वहां तत्सम अनिरुक्त रूप (पिण्डकेन्द्रावच्छिन्न) प्रजापति का अनुग्रह प्राप्त हो जायगा। एवं जिस कर्म में सप्तदश (१७) संख्या का समन्वय होगा, वहां स्वत एव तत्समतुलित 'स्तुगीयप्रजापति' की अग्निचयनसम्पत् का ग्रहण हो जायगा। ३३ अहर्गणात्मक महिमामण्डल का केन्द्र १७ वां अहर्गण है। यही मन्त्रदृश्य अहर्गण उस नवाह्नयज्ञ की उपासनाभूमि है जिसे पुराणपरिभाषानुसार श्वेतद्वीप निवासी सत्यनारायण विष्णु' कहा जाता है। १७ से आरम्भ कर २५ वें अहर्गण पर्यन्त ९ अहर्गणों की व्याप्ति में जो ज्योतिर्मय अपूर्व यज्ञ प्रतिष्ठित है वही नवाह्नयज्ञ कहलाया है। इस नवाह्नयज्ञ का केन्द्र २१ वां अहर्गण है।

यही भगवान् सूर्य्यनारायण प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से यह यज्ञात्मक विष्णु 'सत्यनारायण' कहलाए हैं, जो पूर्वप्रतिपादित त्रिविक्रम विष्णु से पृथक् तत्त्व है। 'यद् वै तत् सत्यमसौ स आदित्यः' के अनुसार सूर्य्य सत्य की प्रतिमा है। आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने के कारण यही नारायण हैं। प्रतिमास की पूर्णिमा तिथि में व्रतस्थ उपासक व्रतप्रक्रियाद्वारा इसी तत्त्व को आत्मसमात् किया करते हैं। १७-२१ ये तीन अहर्गण क्रमशः अग्निविष्णु, विष्णु विष्णु, इन्द्रविष्णु, कहलाए हैं। यही त्रिविष्टप् स्वर्ग है जिसका अन्यत्र विशदी करण हुआ है। तीनों में से १७ वें का पार्थिव तत्त्व यज्ञविष्णु (त्रिविक्रम वामन विष्णु) से सम्बन्ध है जिसकी सम्पत्ति प्रकृत यज्ञ में अपेक्षित है। इसका अन्तिम सीमा चूँकि १७ वाँ अहर्गण है, अतएव 'स वा एष सप्तदशो वै प्रजापतिः' इत्यादि रूप से सप्तदश नाम से व्यवहृत किया जाता है। भूपृष्ठ से आरम्भ कर सत्रहवें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त १७ अवयवों से ही इस यज्ञप्रजापति का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। पांच व्याहृतियों से जहां यह अग्नि नामक सप्तदशप्रजापति पञ्चावयव है, वहां अहर्गणात्मक १७ अवयवों से यह सप्तदशावयव भी बन रहा है। पञ्चावयव सप्तदशाग्निरूप इसी यज्ञात्मा का व्याहृति के सप्तदश अक्षरों से संबन्ध हो जाता है। यही पञ्चव्याहृतिसमष्टि के १७ अक्षरों की मौलिक उपपत्ति है जिसका निम्न लिखित स्मार्त्तवचन भी स्पष्टीकरण कर रहा है —

चतुर्भिश्च ——— चतुर्भिश्च ———— द्वाभ्यां — पञ्चभिरेव च ।

१ २ ३ ४ — १ २ ३ ४ ——— १ २ १ २ ३ ४ ५

(ओ-श्रा-व-य) — (अ स्तु श्रौ-षट्) ——— (य ज) — (ये-य-जा-म-हे)

(१ -३-४) — (५-६-७-८) ——— (९-१०) — (११ १२ १३ १४ १५)

१ ——— २ ——— ३ ——— ४

हूयते च पुनर्द्वाभ्यां —

(१६—१७)

(वौ-षट्)

१६-१७

५

तस्मै यज्ञात्मने नमः ॥

अग्नीषोमप्रजापतये

वृष्टिविज्ञानम्—(१८, १९ कण्डिका)—

सप्तदशस्तोमात्मक आहवनीय प्रदेश ही—जिसे हमने नाकविशिष्ट कहा है—नाचिकेत आग्नेय स्वर्ग कहलाया है। सुप्रसिद्ध स्वर्गाग्नि का—जिसका नचिकेता द्वारा प्रश्न हुआ है एवं यम द्वारा इष्टकाचितिरूप से समाधान हुआ है—इसी सप्तदशस्थान से सम्बन्ध है। प्राङ्मौमिक पञ्चम-समष्टिलक्षण सोमयाग से उत्पन्न स्वर्गमापक यज्ञात्मा इसी सप्तदश स्थान में प्रतिष्ठित होता है। दूसरे शब्दों में दर्शपूर्णमासेष्ट्यनुगत सामयागापरपर्य्यायक, ज्योतिष्टोम से प्राप्तव्य स्वर्ग सप्तदश-स्तोमावच्छिन्न यही नाचिकेत स्वर्ग है जिसके लिए कहा गया है—"दर्शपूर्ण-मासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"। पञ्चाग्न्यात्मा सप्तदशात्मिका स्वर्ग्याग्निलक्षणा प्राणापानसम्पत्ति इस दृष्टिकोण से आधिदैविक सम्पत्ति मानी जा सकती है, जिस की आधिभौतिक शरीर के निधनानन्तर प्राप्ति होती है। मानवीय मन परोक्षफलाकर्षण की अपेक्षा प्रत्यक्ष भौतिक फलाकर्षण की ओर विशेष रूप से आकर्षित रहता है। इस की बाह्यदृष्टि पहिले ऐहलौकिक-फलकामना की अपेक्षा रखती है। जब इसे किसी कर्म्म के प्रति यह विश्वास हो जाता है कि, अमुक अमुक कर्म्म से प्रत्यक्ष में भी इसी जीवन में भी कोई भौतिक फल मिल सकता है, तो वह उस कर्म्म में अपेक्षाबुद्धिपूर्वक प्रवृत्त हो जाता है। यही क्यों आधिभौतिक साधन-साध्यों से सम्पन्न कर्म्मकाण्ड का तो अधिकारी भी वही माना गया है, जिसकी प्राथमिक लक्ष्यभूमि आधिभौतिक ही बनती है। उपपीठिका में प्रतिष्ठित जो उच्चाधिकारी केवल परोक्ष-आधिदैविक लक्ष्यप्राप्ति के लिए कर्म्म में प्रवृत्त रहते हैं उनका वह कर्म्म या उपासना किंवा ज्ञानयोग ही बन जाता है। प्रवृत्तिलक्षण कर्म्मकाण्ड (यज्ञकाण्ड) का सामान्य अधिकारी तो प्रत्येक दशा में भौतिक ऐहलौकिक फल की अवश्यमेव कामना करेगा। प्रकृत आवाहन प्रसा-धायक कर्म्म के इस प्रत्यक्ष भौतिकफल का ही १८, १९, २०, इन तीन कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है। तात्पर्य्य वैदिकयज्ञकर्म्म केवल पारलौकिक आधिदैविक स्वर्गादि फलों के ही जनक नहीं हैं, अपितु परोक्षफल के साथ साथ इनसे प्रत्यक्ष भौतिक योग-क्षेमसंपादक वर्षादिफल भी प्राप्त हो जाते हैं।

इन प्रत्यक्ष फलों को हम ज्योतिश्चक्र (द्युलोक-आकाश), भुवनकोष (भूलोक-पृथिवी) भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। हमारी यथाप्राप्त भोगो

त्मक पार्थिव कामनाओं की प्रतिष्ठा मृत्यु अनुकूला वर्षा ही है। 'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु' इत्यादि यजुर्मन्त्रवचनानुसार समय समय पर पर्जन्य देवता के अनुग्रह (व्यापार) से होने वाली वर्षा ही ओषधि-वनस्पति के उत्पादन द्वारा पार्थिव योग-क्षेम का संचालन कर रही है। हमारी समस्त ऐहलौकिक कामनाओं का, पार्थिव भौगोलिक कामनाओं का, केन्द्रीकरण अन्न-वस्त्र पर ही अवलम्बित है। एवं इस की मूलप्रतिष्ठा खगोलीय वर्षा ही है। वर्षा प्रकृति का प्रथम प्रत्यक्ष अनुग्रह है, पार्थिव ओषधि-वनस्पति-अन्न-पशु वित्तादि द्वितीयानुग्रह है। प्रथमानुग्रह (वर्षा) के आधार पर द्वितीयानुग्रह प्रतिष्ठित है। १७, १८, इन दो कण्डिकाओं में पहिले खगोलीय प्रथमानुग्रह का, एवं २० वीं कण्डिका में द्वितीय भौगोलिक पार्थिव अनुग्रह का विश्लेषण करती हुई श्रुति भ्रान्त जनों की उस भ्रान्ति का आमूलचूड़ खण्डन कर रही है, जिस भ्रान्ति में पड़ कर वे भ्रान्त मनुष्य यह कहते सुने गए हैं कि, "शास्त्रीय कर्मकाण्ड यज्ञकर्म तो मरने के पश्चात् ही फल देते हैं। हमारा पहिला प्रश्न अन्न-वस्त्र है। यह चिन्ता शास्त्रीय कर्मकाण्ड से निवृत्त नहीं हो सकती।" अवश्य ही भारतीय यज्ञकाण्ड न केवल पारलौकिक परोक्ष फलों का ही प्रवर्तक है, अपितु परोक्षातिशय के साथ साथ प्राकृतिक रहस्यपूर्ण वैज्ञानिक-शिक्षणपूर्वक आधिभौतिकी समस्त प्रत्यक्ष कामनाएँ भी इसी यज्ञकाण्ड से सम्पन्न की जा सकती हैं। यही तो यज्ञ के—'इष्टकामधुक्' विशेषण का फलितार्थ है, जिसे न समझ कर अदूरदर्शी भ्रान्त जन शास्त्रानुगत भारतीय वैदिक कर्मकाण्ड की उपेक्षा से अपना सर्वनाश करा रहे हैं।

५ ।

पुरोवात, अभ्र, विद्युत्, स्तनयित्नु इन चारों सहभागियों के एकत्र समन्वय से ही वर्षाकर्म की प्रवृत्ति मानी गई है। सुप्रसिद्ध पुरवाई हवा 'पुरोवात' है। प्रत्यक्षदृष्ट धूम ज्योति-सलिल-मरुत् (बाष्प अग्नि-पानी-वातवायु) की समष्टिरूप 'घन' अभ्र' है। प्रत्यक्षदृष्ट चाकचिक्य विद्युत् है, एवं प्रत्यक्ष श्रुत गर्जन तर्जन ही 'स्तनयित्नु' है। सर्वप्रथम पुरोवात का सञ्चार होता है। पुरोवात सञ्चार से इतस्ततः भूतभाव (खण्डभाव) से बिखरे हुए अभ्रखण्डों का नियताकाशप्रदेश में एकत्र समन्वय हो जाता है। अभ्रघनता से समुत्पन्न वायु अग्नि-जलीयघर्षण से विद्युत् उत्पन्न हो जाती है, साथ ही गर्जन तर्जनलक्षण स्तनयित्नु भी। इस सम्पूर्ण सामग्री सम्भार के सम्पन्न होते ही—गड़-गड़ प्रतिध्वनि के साथ वर्षा होने

अवरोहणम्)—"तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते-यथेतम्। आकाशमाकाशाद्वायुं, वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह व्रीहि यवा-ओषधि-वनस्पतय तिल-माषा इति जायन्ते। अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति, यो रेतः सिञ्चति, तद्भूय एव भवति"।

—छान्दोग्योपनिषत् ५ प्र। १० खं। ५, ६ मं।

द्युलोकस्थ महातत्त्व सोम द्वारा वृष्टिरूप में परिणत होता है, इस प्रथम दृष्टिकोण से एवं अवरोहण क्रम में जीवात्मा वृष्टिरूप में परिणत होता है, इस द्वितीय दृष्टिकोण से हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ रहा है कि, द्युलोकस्थ [illegible] तत्त्वविशेष ही वृष्टि का जनक है। अब उक्त दोनों दृष्टिकोणों से सर्वथा विभिन्न तीसरे दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाइए। जिस प्रकार द्युलोकाधिष्ठाता सूर्य्य से रश्मियों के द्वारा सौर सावित्राग्नि (आदित्याग्नि) अन्नरूप से भूलोक की ओर आता रहता है, एवमेव भूलोकाधिष्ठाता पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि अपने प्राणरूप से भूपिण्ड से निकल कर अन्नरूप से द्युलोक की ओर आया करता है। द्युलोक से आते हुए आदित्याग्नि से यहाँ सुप्रसिद्ध "आदित्यानामयनम्" नामक सत्र का स्वरूप निष्पन्न हो रहा है, यहाँ भू से जाते हुए अङ्गिरोऽग्नि से सुप्रसिद्ध "अङ्गिरसामयनम्" सत्र सम्पन्न हो रहा है। भूलोक से निकला हुआ प्राणरूप अङ्गिरोऽग्नि तो द्युलोक की ओर जा ही रहा है। साथ ही द्युलोक से भूपृष्ठ पर आकर आदित्याग्नि भी प्रतिफलित होकर अन्न रूप में परिणत होता हुआ द्युलोक की ओर ही जा रहा है। दोनों के इसी सहगमन से उक्त दोनों अयनसत्रों का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। सुप्रसिद्ध अङ्गिरा आदित्य-स्पर्द्धा का स्पष्टीकरण करने वाले आख्यान ने इसी तत्त्व-विज्ञान का प्रतिपादन किया है †। वक्तव्य यही है कि, पार्थिव अग्नि (प्राणात्मक

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन चतुःखण्डात्मक श्राद्धविज्ञान के— 'परमगति-विज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीय खण्ड में देखना चाहिए।

† — "आदित्याश्च ह वाऽअङ्गिरसश्च उभये प्राजापत्या अस्पर्द्धन्त-वयं पूर्वे स्वर्गं लोकमेष्यामो, वयं पूर्वे इति। (शत ११।१।१।९)— "आदित्यानामयनम् अङ्गिरसामयनम्" (शत ४।५।१।१६)।

अङ्गिरोऽग्नि) भूपिण्ड से निकल कर वाङ्मय स्तोमों के आधार पर अग्निद्र रूप से, एवं वृहद्रूप से निरन्तर द्युलोक की ओर जाया करता है। स्तोमसम्बन्ध अङ्गिरोऽग्नि का यह द्यु-गमनमार्ग सर्वथा नियत है। अङ्गिरोऽग्नि के इसी द्युगमन का स्पष्टीकरण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है —

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
प्र भूर्जया यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥

—अथर्व १८।१।६१

भूपृष्ठ पर व्याप्त जलमात्रा वाष्परूप में परिणत होकर द्युलोक की ओर जाते हुए अङ्गिरोऽग्नियों में प्रतिष्ठित हो जाती है। अग्निगमन के साथ साथ वाष्परूप परिणत पार्थिव जलमात्रा भी अन्तरिक्ष में चली जाती है। अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित मरुत् नामक वायुविशेष के धरातल पर यह जलमात्रा गर्भीभूत बन जाती है। यही पार्थिवजल का गर्भधारण है। जबतक सौररश्मियाँ तीव्र नहीं बन जातीं तबतक यह पार्थिव जलमात्रा उसी वायुगर्भ में प्रतिष्ठित रहती है। जब (आ- त्विक ग्रीष्मकालोपलक्षित निदाघकालावसान में) सौररश्मियाँ अपने निम्नमार्ग परिणत हो जाती हैं, तत्काल वायुधरातलस्थ पानी भूपिण्ड पर गिर पड़ता है। इस प्रकार पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि द्वारा मरुद्धरातल में गत पानी ही कालान्तर में पृथिवी पर बरस पड़ता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार पार्थिव जल ही द्युलोक में जाकर वृष्टि का कारण बन रहा है। हम समझते हैं वृष्टि केवल भूपिण्ड में ही होती है, परन्तु यथार्थ परिस्थिति तो यह है कि, भू—द्यु, दोनों में समानरूप से वृष्टि होती है। अन्तर केवल यही है कि, द्युलोक में पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि वृष्टि के प्रवर्त्तक हैं, एवं भूलोक में आन्तरिक्ष्य पर्जन्य देवता वृष्टि के प्रवर्त्तक हैं। यहाँ से वहाँ पानी यहाँ बरसता है–पर्जन्य द्वारा। यहाँ से वहाँ पानी बरसता है—पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि द्वारा। पार्थिववृष्टि में पार्थिव अहर्गण निमित्त बनते हैं, दिव्यवृष्टि में सौर अहर्गण निमित्त बनते हैं। निम्न लिखित मन्त्रश्रुतियाँ इसी दृष्टिकोण का समर्थन कर रही हैं —

(१) 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टां नयन्ति ।
यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्य्यावर्त्तते, अथ वर्षति

—तै० स० २ कां। ४ प्र। १ अ। १२ कं०

न्तरों में गमन करता है—(प्रश्ननिरूपणाभ्याम्)। *—प्रश्न-निरूपण का तात्पर्य यही है कि, अवरोह (उत्पत्ति) क्रम में अप्तत्त्व से ही पुरुष की उत्पत्ति हुई है। यदि आरोहक्रम से अप्तत्त्व का पुनरागमन न माना जायगा तो सृष्टिक्रम आगे के लिए अवरुद्ध हो जायगा। कारण स्पष्ट है। पार्थिव सृष्टिनिर्म्माण में प्राकृतिक पुरुषोत्पत्त्य) अप्मात्रा का यदि व्यय ही होता रहेगा, तो एक न एक दिन वह निःशेष हो जायगी। फलतः निर्म्माणक्रम भग्न हो जायगा। उधर—'स्वयम्भूर्याथा-तथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः'—'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यानुसार सृष्टिक्रम शाश्वत माना गया है। इसकी यह शाश्वतता तभी अक्षुण्ण बनी रह सकती है जब कि जीवावरोहणवत् जीवारोहण में भी अप्-तत्त्व का गमन माना जाय। इसी आधार पर—'ता एव अनुप्रपद्य' इत्यादि के अनुसार मानना पड़ता है कि—"जीवात्मा भूतसूक्ष्मैः सम्परिष्वक्त एव लोकान्तरे गच्छति।"

अग्निहोत्रयज्ञ से समतुलित इस पञ्चाग्निविद्यात्मक अग्निकर्म से ही पुरुषसृष्टि का आविर्भाव हुआ है। हमारे वैध (मनुष्ययज्ञमानकृत) अग्निहोत्र में अग्नि, समित्, अङ्गार, विस्फुलिङ्ग, हविर्द्रव्य, इत्यादि भौतिक साधनों का समन्वय रहता है। इन सब भौतिक साधनों का अन्नादस्वरूप अग्नि, अन्नस्वरूप सोम इन दो ही साधनों में अन्तर्भाव माना जासकता है। क्योंकि प्राकृतिक नित्याग्निहोत्र में ये दो साधन ही मुख्य माने गये हैं। "रोदसीत्रैलोक्यविधाता,—'नैवोदेता, नास्तमेता मध्य एकल एव स्थाता'—'वृहद्ध तस्थौ-भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश'—'सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति' इत्यादि वचनों के अनुसार रोदसी ब्रह्माण्ड के केन्द्र विषुवद्वृत्त नामक बृहतीछन्द के मध्यस्थान में प्रतिष्ठित सूर्य्यदेवता सावित्राग्निमय हैं। अग्निस्वरूप यह निरन्तर इसी प्रकार अन्नाहरण की इच्छा किया करते हैं जैसे कि हमारा शरीराग्नि स्वाभाविक बुभुक्षा के उपशम के लिए सायं प्रातः अन्न

---

* तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्।

स याति जीवः करणावमादाय संवेष्टितो गच्छति भूतसूक्ष्मैः॥ —प्रश्नश्रुति

जीवात्मगतिविज्ञानात्मक इस सूत्रार्थ का विशद वैज्ञानिक विवेचन शारीरकविज्ञानान्तर्गत 'कर्म-निर्मितिपरिलेख' नामक प्रकरण में देखना चाहिए।

(भोजन) की इच्छा किया करता है। इस स्वाभाविक अन्नादानेच्छा से ही यह अन्नमयीवि निवचन से 'अन्नाद' कहलाया है। कल्पना कीजिए उस ब्रह्माण्ड व्यापक और भूमि के महामहनीय प्रवृद्धतम अन्नादभाव की, जिसकी महिमा के गर्भ में असंख्य अस्मदादि व अन्नाद प्रतिष्ठित हैं, जिन्हें अपने स्वरूप आयतन की पूर्ति के लिए प्रतिदिन सायं प्रातः अन्नादान की बुभुक्षा बनी रहती है। अवश्य ही यह मानना पड़ेगा कि, जिसने ब्रह्माण्ड के प्रति अपने आप को अन्नात्मकत्वेन समर्पित कर दिया है, हमारे रोदसी ब्रह्माण्ड से भी बृहदायतन कोई न कोई अन्न निरन्तर इस विराट् की बृहती बुभुक्षा शान्त करता रहता है। उस महदन्नाहुति का ही यह प्रभाव है कि, आरम्भसे आज पर्य्यन्त सृष्टिनिर्म्माण प्रक्रिया में अपनी मात्राओं का समर्पण करता हुआ भी सूर्य्य स्वशरीर से अक्षुण्णवत् बना हुआ है। जिस उस महदन्न की इस सौर सावित्राग्नि में निरन्तर आहुति होती रहती है जिस अन्नाहुति से 'आ कृष्णेन रजसावर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च' इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार जो सोरसावित्राग्नि स्वस्वरूप से कृष्ण रहता हुआ भी ज्योतिर्म्मय बना हुआ है, वही सौराग्नि का अन्न उस महामहिम पारमेष्ठ्य मण्डल में रहने वाला मार्गव लोहवर्त्म है, जिन परमेष्ठी मण्डल के सामने सूर्य्य एक बुद्बुद् के सदृश अपना महत्त्व रखता है। वही पारमेष्ठ्य अन्नसोम ब्रह्मणस्पति कहलाया है, जिसका मौलिक स्वरूप अप्लक्षण ब्रह्मतत्त्व माना गया है। इसी ब्रह्मात्मिका सोमाहुति से सूर्य्य प्रज्वलित है। सौरप्राणाग्नि अग्नि है, सूर्य्यात्मक मूर्त्तपिण्ड अङ्गार है, सूर्य्य से प्रवर्ग्यसम्बन्ध द्वारा इतस्ततः विनिःसृत भूम्र लोहित हरित आग्नेयपुञ्ज विस्फुलिङ्ग हैं अस्मदादि समस्त प्राणिवर्ग समित् हैं, पारमेष्ठ्य साम हविर्द्रव्य है। इन सब के समन्वय से ही प्राकृतिक नित्य अग्निहोत्र सञ्चालित है, जिसके आधार पर रोदसी ब्रह्माण्ड की जीवनसत्ता अवलम्बित है। इसी प्राकृतिक सूर्य्याग्निहोत्रविधा के आधार पर मानुष उस अग्निहोत्रविधा का आविष्कार हुआ है, जिस का याज्ञिक ब्राह्मण सायं प्रातः अनुगमन किया करते हैं। अग्निहोत्र के इसी रहस्यात्मक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति में कहा है—

"सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्। तद्यदेतस्या अग्रऽआहुतेरैत्, तस्मात्-, सूर्य्योऽग्निहोत्रम्। स यत् सायमस्तमिते जुहोति, य इदं तस्मि-,

न्तरों में गमन करता है—(प्रश्ननिरूपणात्मकम्)। *—प्रश्न-निरूपण का तात्पर्य यही है कि, अवगाह (उत्पत्ति) क्रम में अप्तत्त्व से ही पुरुष की उत्पत्ति हुई है। यदि आरोहक्रम में अप्तत्त्व का पुनर्गमन न माना जायगा, तो सृष्टिक्रम-धारा के लिए अवरुद्ध हो जायगा। कारण स्पष्ट है। पार्थिव सृष्टिनिर्माण में प्राकृतिक पुण्यकर्म) अप्मात्रा का यदि व्यय ही होता रहेगा तो एक न एक दिन वह नि-शेष हो जायगा। फलतः निर्माणक्रम बन्द हो जायगा। उधर—'स्वयम्भूब्रह्मा-ऽप्यनादिमान् ...स्वयम्भुवाऽऽ समाम्य'—'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यानुसार सृष्टिक्रम शाश्वत माना गया है। इसकी यह शाश्वतता तभी अक्षुण्ण बनी रह सकती है, जब कि आपोगर्भाद्गमन औपारोहक्रम में भी अप्-तत्त्व का गमन माना जाय। इसी आधार पर—'स एव ह प्रपद्यते' इत्यादि के अनुसार मानना पड़ता है कि—"आपात्मा भूतसूक्ष्मैः सम्परिष्वक्त एव लोकान्तरं गच्छति"।

अग्निहोत्रमन्त्र से समनुष्ठित इस पञ्चाग्निविद्यात्मक अग्निकर्म से ही पुरुषसृष्टि का आविर्भाव हुआ है। हमारे वैध (मनुष्यप्रयत्नाकृत) अग्निहोत्र में अग्नि समित्, अङ्गार विस्फुलिङ्ग हविर्द्रव्य इत्यादि भौतिक साधनों का समन्वय रहता है। इन सब भौतिक साधनों का अध्यात्मक्रम अग्नि अन्नमय सोम इन दो ही साधनों में अन्तर्भाव माना जा सकता है। क्योंकि प्राकृतिक नित्याग्निहोत्र में ये दो साधन ही मुख्य माने गये हैं। "इदमग्नेर्ध्यात्मीयसाधनं—अग्निरेव, नान्य-दन्नं, अन्न एकम् एव स्वाहा"—"हंस: शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसत् पवमाना इरिव आदि-वरा"—"सूर्यो ह्यन्नमथ्नाति" इत्यादि वचनों के अनुसार रात्रि प्रमाण के मन्त्र विष्वद्वृत्त नामक वृत्तकेन्द्र के मध्यस्थान में प्रतिष्ठित सूर्यदेवता सावित्राग्निमय हैं। अग्निसदन यह निरन्तर इसी प्रकार अन्नाहुति की इच्छा किया करते हैं, जैसे कि हमारा शरीराग्नि स्वाभाविकी बुभुक्षा के उपशम के लिए सोम मात्र अन्न

* तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्।
स प्राह जीव करणाश्रयमात्रा सीरच्छिता गच्छति भूतसूक्ष्मैः॥ —इत्यादि
यतस्त्रयोविंशतितम इस सूत्रमन्त्र का विचार वैदिक विज्ञान शास्त्रमूलभूत शास्त्र-प्रमाणानुसार प्रयत्नपूर्वक में देखना चाहिए।

सम्पन्न हुआ है, एवमेव द्यु रसानुगत पुरुष (पिता), पृथिवी रसानुगता योषा [माता] के दाम्पत्य से प्राणीविध यज्ञ सम्पन्न होता है। योषा पृथिवी की प्रतिकृति है, पुरुष द्युलोक की प्रतिकृति है। अतएव इस प्राणिविध यज्ञ को भी द्यावापृथिव्य ही माना जायगा। प्राणविध द्यावापृथिव्य यज्ञ में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, तीनों का सर्वथा पार्थक्य है। इधर प्राणिविध द्यावापृथिव्य यज्ञ में अन्तरिक्ष का पृथिवी—प्रतिकृतिरूपा योषा के गर्भाशयरूप आन्तरिक्ष्य आकाश में ही अन्तर्भाव हो रहा है। अतएव जहां प्राणविध द्यावापृथिव्य यज्ञ की तीन संस्था होती हैं, वहां प्राणिविध द्यावापृथिव्य यज्ञ की पुरुष, योषारूप से दो ही संस्थाएं रह जाती हैं। सम्भूय १—२ क्रम से द्यावापृथिव्य यज्ञ की पांच संस्था हो जाती हैं जिनका पञ्चाग्निविद्या द्वारा क्रमिक विश्लेषण हुआ है। एवं जिस विश्लेषण की द्यु, अन्तरिक्ष, पृथिवी, पुरुष, योषा, ये पांच पृथक् विधा हैं।

(१) सर्वप्रथम क्रमप्राप्त द्यु विधा का ही समन्वय कीजिए। द्युलोक अग्नि है, आदित्य समित् है, रश्मियां धूम हैं, अहःकाल अर्चि है, चन्द्रमा अङ्गार है, नक्षत्र विस्फुलिङ्ग हैं। इन्द्रप्रमुख देवदेवता स्वव्यापार से द्युलोकाग्नि में श्रद्धा' रूप हविर्द्रव्य की आहुति देते हैं। आहुत श्रद्धातत्त्व और आहुतिग्राहक अग्नितत्त्व दोनों के अन्तर्याम (चिति) सम्बन्धात्मक रासायनिक रस सम्मिश्रण से—जिसमें दो के योग से दोनों के पूर्वस्वरूपोपमर्दद्वारा तीसरा अपूर्वभाव उत्पन्न हो जाता है,—सोम नामक तत्त्वान्तर उत्पन्न होता है। श्रद्धातत्त्व का रूपान्तर यही सोम आन्तरिक्ष्य यज्ञ में आहुतिद्रव्य बनने वाला है। सोमोत्पत्ति ही इस द्यु-यज्ञ का प्रधान फल है।

द्युलोक लोक है, तत्र प्रतिष्ठित सौरप्राणाग्नि (सावित्राग्नि) लोकी है। सूर्य पिण्ड भूताग्नि है, पिण्डकेन्द्र को आलम्बन बनाकर सौर द्युलोक को अन्तिम सीमा में व्याप्त रहने वाला प्राणाग्नि देवाग्नि है। लोक-लोकी का अभेद मान कर ही यहां—असौ वाव लोको गौतम ! अग्निः यह कह दिया गया है।

भूताग्नि पिण्डरूप आदित्य (सूर्यपिण्ड) प्रज्वलित सा दिखाई देता है। इसी से आग्नेय प्राणमय धूम का उदय होता है। इसी समिन्धन से सूर्यपिण्ड 'समित्' माना गया है।

जिस प्रकार प्रज्वलित समित् (काष्ठ) से धूम निकला करता है, एवमेव प्राग्ज्य... ...ग्न्यात्मक समित् को गर्भ बनाकर इस से चारों ओर रश्मियों का

न्निह सति जुहवानि-इति। अथ यत प्रातरनुदिते जुहोति, य इदं तस्मिन्निह सति जुहवानि-इति, तस्मात् सूर्य्योऽग्निहोत्रम्।"
—शत० ब्रा० २।३।१।१,२,।

उक्त सूर्य्याग्निहोत्र में अग्निहोत्रसाधक अग्नि, अङ्गारादि, जिन साधनों का लक्षण किया गया है, वे सब अग्नि सोम, इन दो तत्त्वों पर ही विश्रान्त हैं। अग्नि, धूम, समित अङ्गार, विस्फुलिङ्ग, इन का तो अग्नि में अन्तर्भाव है, शेष सोममात्र रह जाता है। अतएव अवश्य ही इस अनेकसाधनानुगत भी यज्ञ का 'अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः' यह लक्षण किया जासकता है। पञ्चाग्निविद्या का तात्पर्य यही है कि, एक ही यज्ञ स्थान भेद से पाँच संस्थाओं में विभक्त हो रहा है। सौर संस्था आधिदैविक है, पार्थिवसंस्था आधिभौतिक है, पुरुषसंस्था आध्यात्मिक है। आधिदैविकसंस्था का २ विभाओं से आधिभौतिकसंस्था का १ विभा से, एवं आध्यात्मिकसंस्था का २ विभाओं से सम्बन्ध है। कारण इस संख्या विपर्य्य का यही है कि आधिदैविक, तथा आध्यात्मिक यज्ञों के दाम्पत्यभाव से जहां अन्य दाम्पत्ययज्ञ (प्रजा) उत्पन्न होता है, वहां आधिभौतिक पाषाण लोष्टादि पदार्थों से अन्य यज्ञ उत्पन्न नहीं होता। संकेतविभा से यही रहस्य सूचित करने के लिए आधिदैविक, आध्यात्मिक यज्ञों के लिए २—२ विभाओं का एवं सर्वथा आधिभौतिक यज्ञ के लिए एक ही विभा का स्पष्टीकरण हुआ है। तीनों के पाँच अवयव-यज्ञों का ही पञ्चाग्निविद्या द्वारा निरूपण हुआ है।

उक्त पञ्चावयव यज्ञ द्यावापृथिव्य है। द्यावापृथिव्य यज्ञ के प्राणलक्षण-यज्ञ, प्राणीलक्षण-यज्ञ, भेद से दो विवर्त्त माने जासकते हैं। प्राकृतिक प्राणों के समन्वय से सम्बन्ध रखने वाला द्यावापृथिव्य यज्ञ 'प्राणलक्षण यज्ञ' कहलायेगा एवं प्राकृतिक जरायुजादि प्राणियों के समन्वय से सम्बन्ध रखने वाला द्यावापृथिव्य यज्ञ 'प्राणिलक्षण यज्ञ' माना जायगा। प्राणलक्षण यज्ञ के पृथिवी अन्तरिक्षम्, द्यौः, ये तीन पर्व हैं। प्राणिलक्षण यज्ञ के पुरुष योषा (स्त्री) ये दो पर्व हैं। द्युलोकाधिष्ठाता अह:कालीन उदय अर्द्धाकाशानुगत सौर आग्नेय प्राण से पुरुषसृष्टि का आविर्भाव हुआ है। भूलोकाधिष्ठाता (जिस में आन्तरिक्ष्य प्राणवायु का भी समन्वय है) रात्रिकालीन उदय अर्द्धाकाशानुगत चान्द्र सौम्यप्राण से योषासृष्टि का आविर्भाव हुआ है। द्युलक्षण पिता पृथिवी रूपिणी माता के दाम्पत्य से जैसे प्राणविध यज्ञ

सम्पन्न हुआ है, एवमेव द्यु रसानुगत पुरुष (पिता), पृथिवी रसानुगता योषा [माता] के दाम्पत्य से प्राणीविध यज्ञ सम्पन्न होता है। योषा पृथिवी की प्रतिकृति है, पुरुष द्युलोक की प्रतिकृति है। अतएव इस प्राणिविध यज्ञ को भी द्यावापृथिव्य ही माना जायगा। प्राणविध द्यावापृथिव्य यज्ञ में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, तीनों का सर्वथा पार्थक्य है। इधर प्राणिविध द्यावापृथिव्य यज्ञ में अन्तरिक्ष का पृथिवी—प्रतिकृतिरूपा योषा के गर्भाशयरूप आन्तरिक्ष्य आकाश में ही अन्तर्भाव हो रहा है। अतएव जहां प्राणविध द्यावापृथिव्य यज्ञ की तीन संस्था होती हैं वहां प्राणिविध द्यावापृथिव्य यज्ञ की पुरुष, योषारूप से दो ही संस्थाएं रह जाती हैं। सम्भूय ३—२ क्रम से द्यावापृथिव्य यज्ञ की पांच संस्था हो जाती हैं जिनका पञ्चाग्निविद्या द्वारा क्रमिक विश्लेषण हुआ है। एवं जिस विश्लेषण की द्यु, अन्तरिक्ष पृथिवी, पुरुष योषा, ये पांच पृथक् विधा हैं।

(१) सर्वप्रथम क्रमप्राप्त द्यु विद्या का ही समन्वय कीजिए। द्युलोक अग्नि है आदित्य समित् है, रश्मियां धूम है अहःकाल अर्चि है चन्द्रमा अङ्गार है नक्षत्र विस्फुलिङ्ग हैं। इन्द्रप्रमुख देवदेवता स्वव्यापार से द्युलोकाग्नि में 'श्रद्धा' रूप हविद्रव्य की आहुति देते हैं। आहुत श्रद्धातत्त्व, और आहुतिग्राहक अग्नितत्त्व दोनों के अन्तर्याम (चिति) सम्बन्धात्मक रासायनिक उस सम्मिश्रण से—जिसमें दो के योग से दोनों के पूर्वस्वरूपोपमर्द द्वारा तीसरा अपूर्वभाव उत्पन्न हो जाता है,—सोम नामक तत्त्वान्तर उत्पन्न होता है। श्रद्धातत्त्व का रूपान्तर यही सोम आन्तरिक्ष्य यज्ञ में आहुतिद्रव्य बनने वाला है। सोमोत्पत्ति ही इस द्यु-यज्ञ का प्रधान फल है।

द्युलोक लोक है, तत्र प्रतिष्ठित सौरप्राणाग्नि (सावित्राग्नि) लोकी है। सूर्य्यपिण्ड भूताग्नि है, पिण्डकेन्द्र का आलम्बन बनाकर सौर द्युलोक की अन्तिम सीमा में व्याप्त रहने वाला प्राणाग्नि देवाग्नि है। लोक-लोकी का अभेद मानकर ही यहां—'असौ वाव लोको गौतम। अग्नि' यह कह दिया गया है।

भूताग्नि पिण्डरूप आदित्य (सूर्य्यपिण्ड) प्रज्वलित सा दिखाई देता है। इसी से आग्नेय वाष्पलक्षण धूम का उदय होता है। इसी समिन्धन से सूर्य्यपिण्ड समित् माना गया है।

जिस प्रकार प्रज्वलित समित् (काष्ठ) से धूम निकला करता है एवमेव प्रज्वलित सूर्य्यपिण्डात्मक समित् को गर्भ बनाकर इस से चारों ओर रश्मियों का

वितान होता है। रश्मियाँ आग्नेय आप्य की प्रतिकृतियाँ हैं। अतएव इन्हें अवश्य ही धूम कहा जासकता है।

जिस प्रकार धूम युक्त समित् से निकलने वाली अग्निज्वाला से चारों ओर प्रकाश हो जाता है एवमेव रश्मियुक्त सूर्य्य से निकलने वाली रश्मियों के सूक्ष्मवितान से सम्पूर्ण त्रैलोक्य प्रकाशित हो पड़ता है। प्रकाश ही अर्चि (ज्वाला) है। यही प्रकाशात्मक भाग ही अर्चि है।

जबतक ज्वाला (अर्चि) बनी रहती है, तबतक समित् अङ्गाररूप में परिणत नहीं होता। ज्वाला के शान्त हो जाने पर ही अङ्गार की अभिव्यक्ति होती है। तापसम्बन्धा वह ज्वाला यहां आदित्यरूपा अर्चि (प्रकाश) है। जबतक यह रहती है तबतक चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता (अभिव्यक्ति नहीं होती, अपितु अभिभूत रहता है)। भाग के अन्तर्लीन होजाने पर चन्द्रमा इसी प्रकार अभिव्यक्त होजाता है, जैसे कि, ज्वालोपशम पर अङ्गार अभिव्यक्त होजाता है। इसी साम्य से चन्द्रमा अङ्गार माना जासकता है। चन्द्रमा सोममय है। सोममय चन्द्रमा की उत्पत्ति इसी दिव्य आदित्ययज्ञ से हुई है। इसलिए भी चन्द्रमा को आदित्य यज्ञ का अवयव माना जासकता है। चन्द्रमा का प्रकाशधर्म्म भी सौरप्रकाश का ही प्रवर्ग्यरूप है। प्रतिफलित सौर प्रकाश ही चान्द्रज्योति का जनक बनता है, जैसा कि—"अत्था चन्द्रमसा गृह"—"तरणिकिरणसङ्गादेष पीयूषपिण्डो—दिनकर दिशि चन्द्रिकाभिश्चकास्ते" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। इस लिए भी चन्द्रमा को अवश्यमेव आदित्ययज्ञावयव माना जासकता है।

"चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि" इत्यादिमन्त्रवर्णनानुसार चन्द्रमा अप्पिण्ड है। नक्षत्र अप्तत्व के ही प्रवर्ग्यरूप हैं, अतएव इन्हें—"उडु" (पानी-यपिण्ड) नाम से व्यपहृत किया जाता है। नाक्षत्रिक आप्यप्राण जहां गणात्मक है, वहां चान्द्रमस आप्यप्राण अधिष्ठाता है। अवयव, अवयवी का जो सम्बन्ध है वही चन्द्रमा और नक्षत्रों का सम्बन्ध है। अतएव अग्नि वायु, आदित्य, चन्द्रमा इन चारों अधिष्ठाता देवताओं के क्रमशः वसु रुद्र—आदित्य—नक्षत्र, ये चार गणदेवता कहलाए हैं जिसप्रकार अग्नि अङ्गार से अङ्गारात्मक विस्फुलिङ्ग विनिर्गत हैं एवमेव अग्नि आप्य चन्द्रमा से अङ्गारात्मक आप्य नाक्षत्रिक तेज का विकास हुआ है। अतएव नक्षत्रों को अवश्य ही अङ्गार चन्द्रमापेक्षया विस्फु-लिङ्ग कहा जासकता है।

पार्थिव, आन्तरिक्ष्य, दिव्य, तीनों में क्रमशः अग्नि, वायु, इन्द्र, इन तीन अति-छाया देवताओं का प्रभुत्व है। अतएव पार्थिव देवताओं को आग्नेय, आन्तरिक्ष्य देवताओं को वायव्य, एवं दिव्य देवदेवताओं को ऐन्द्र कहा जा सकता है। उक्त दिव्ययज्ञसंस्था में ये ऐन्द्रदेवता ही ऋत्विक् हैं, सूर्यचन्द्रमय हिरण्यगर्भ प्रजापति ही इस यज्ञ के यजमान हैं। दिव्य ऐन्द्रदेवताओं के द्वारा श्रद्धातत्त्व की सावित्राग्नि में आहुति हो रही है। इस प्रकार 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा' में यहां ऐन्द्र दिव्य देवता ही गृहीत हैं।

अब शेष रह जाता है केवल श्रद्धा तत्त्व। पूर्वप्रकरण भाष्यों में अनेकधा श्रद्धा के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण किया जा चुका है। अतएव विश्लेषण अनावश्यक है। प्रकरणसंगति के लिए यह जान लेना मात्र पर्याप्त होगा कि, पारमेष्ठ्य अप्तत्त्वानुगत चान्द्रसोम से सम्बन्ध रखने वाला, ऋत (सत्य) का धारण करने वाला, मनोगत स्नेहतत्त्व ही 'श्रद्धा' है। 'श्रद्धा, रेता, यश' इन तीन चान्द्र मनोवाक्कर्मों का क्रमशः वाङ्मय शरीर, शुक्र, मन, इन तीन आध्यात्मिक पर्वों से सम्बन्ध है। तीनों ही प्राकृतिक अनुभव हैं। जिन के मन, शुक्र, शरीर में चान्द्र श्रद्धा रेत-यश का सहज्या समावेश रहता है वे ही श्रद्धालु, रेतोधा एवं यशस्वी होते हैं। मनोमयी श्रद्धा पितृप्राण की, शुक्रमय रेत मानवप्राण की, एवं वाङ्मय यश यथाप्रकार सम्बन्ध से देवप्राण की प्रतिष्ठा बनता है। श्रद्धातत्त्वानुगत पितृकर्म इस श्रद्धातत्त्व के सम्बन्ध से ही श्राद्ध कहलाया है। श्रद्धा वा आपः (श० ब्रा० १२।७।३।११)—के अनुसार श्रद्धा वास्तव में आपोमय तत्त्वविशेष ही है, जिस का उपलब्ध भाष्यों में तत्त्वात्मक समन्वय नहीं हुआ है। अप्तत्त्व श्रद्धा का प्रथम रूप है, सोमतत्त्व श्रद्धा का उत्तररूप है। समिन्धाना मातरिश्वा दधाति (इत्यादि निगम)—'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्' (गोपथ-ब्राह्मण) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार भृगुरूप सोमतत्त्व अङ्गिरारूप तेज दोनों ही आपः हैं। अतएव आपोमयी श्रद्धा के लिए—तेज एव श्रद्धा (शत० ११।३।१।१) यह भी कह दिया जाता है। उपर्युक्त आपोमयी श्रद्धा परमेष्ठी में युक्त है, सबसे पहिले यह श्रद्धा है। आदित्याग्नि में हुत होते ही आदित्याग्नि तथा श्रद्धाग्नि दोनों के सम-

* यथा सो० १ भा० म दमन … द्रष्टव्य।

न्वय से पूवस्वरूपोपमर्दद्वारा यह 'सोम' रूप में परिणत हो जाती है। आपोमयी श्रद्धा में आप्यप्राण की प्रधानता रहती है। परन्तु तद्रूपान्तरभूत सोम आप्य प्राण से सर्वथा बहिष्कृत है। यह विशुद्ध देवान्न बन जाता है। यही द्युलोको पलक्षित-आधिदैविक यज्ञसंस्था के द्यु-पर्वात्मक प्रथमपर्व का संक्षिप्त निदर्शन है, जिस का निम्न लिखित श्रुति से स्पष्टीकरण हो रहा है--

द्यौ (१) "असौ वाव लोको गौतम ! अग्नि । तस्य आदित्य एव समित्, रश्मयो धूम, अहरर्चि, चन्द्रमा अङ्गारा, नक्षत्राणि विस्फु लिङ्गा । तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा श्रद्धां जुह्वति । तस्या आहुत सोमो राजा सम्भवति" । (दिव्ययज्ञ)



(२)—दूसरा आधिदैविक यज्ञपर्व अन्तरिक्ष से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार पृथिवी का अधिष्ठाता प्यथाभिमानी पृथिवी के अनुसार अग्नि है, द्युलोकाधि ष्ठाता आदित्य (इन्द्र) है, एवमेव अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता वायुदेवता माने गए हैं। इस वायुतत्त्व के अनेक विवर्त हैं। उनमें से सोमतत्त्व का अनुयोगी वृत्रतत्त्वका प्रतियोगी आप्यप्राणानुगत वायुविशेष ही प्रकृत की यज्ञसृष्टि में अग्नि प्रेत है। वही आन्तरिक्ष्य वायुविशेष 'पर्जन्य' कहलाया है। यही वस द्युलोकानु गत सोम को अपने गर्भ में रखने के कारण 'अग्नि (आप्याग्नि) कहलाया है। आप्य अग्नि-सम्बन्ध से ही इस—'पर्जन्यो वा अग्निः (शत० १४।६।१।१३) इत्यादि रूप से अग्नि कहा गया है। वर्षा से पहिले जो सनसनाता पूर्ववायु (पुरवाई हवा) प्रवाहित होता है, वही 'पर्जन्य' कहलाया है। इसी अभिप्राय से पर्जन्य का 'जन्यतीव हि पर्जन्य' (शत० ६।५।३।२) यह लक्षण किया गया है। अष्ट मूर्ति शिवतत्त्व परिभाषा में यही पर्जन्य 'भव' नाम से व्यवहृत हुआ है। पर्जन्य की वृष्टिद्वारा सत्प्रपञ्च का प्रभव बनता है। अतएव 'पर्जन्याद्दीर्घं सत् भवति' के अनुसार अवश्य ही इसे 'भव' कहा जासकता है (देखिए शत० ६।१।३।१५)। आप्य अग्निलक्षण वायव्य तत्त्वात्मक पर्जन्य के उक्त वस्तुस्वरूपात्मक और निरु पण के विद्यमान रहते भी यदि इस का—'पर्जन्यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानी

देवताविशेष' (शाङ्करभाष्य) यह अर्थ किया जाता है सो आश्चर्य इस लिए नहीं होता कि, वेदों का तत्त्वविज्ञान गत सहस्राब्दियों से सर्वथा स्मृतिगर्भ में विलीन रहा है। आप्यप्राणात्मक वायु (पर्जन्य) वृष्टि का उपकरण भी है, प्राणघन स्तन इसे देवता भी कहा जासकता है। परन्तु यह—'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' वाला अभिमानी देवता नहीं है, जैसा कि—शतपथभाष्य प्रथम वर्ष के— अष्टविधदेवताविज्ञान' प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है। अभिमानी देवता का सम्बन्ध एकमात्र उपासनाकाण्ड से ही माना गया है। कर्मकाण्डानुगत देवता का तो विशुद्ध तत्त्ववाद से ही सम्बन्ध है।

जिस प्रकार द्युलोकोपलक्षित आदित्याग्नि प्राणविध था, एवमेव यह आन्तरिक्ष्य आप्यप्राणाग्नि (पर्जन्य) भी प्राणविध होने से देवाग्नि ही माना जायगा। इन्द्रघन धर्मा प्रत्यक्षानुभूत पुरोवात इसी पर्जन्य का भौतिकरूप माना जायगा। यही मृगवायु प्राणात्मक पर्जन्यवायु का उत्तेजक बनता है, अतएव इसे पर्जन्याग्नि की समिध माना जासकता है।

पर्जन्याग्नि, मृगवायु, आन्तरिक्ष्य अप्तत्त्व, अग्निसम्बन्धेन उत्पन्न बाष्प (धूम), इन के समन्वय से अभ्र का स्वरूप सम्पन्न होता है। इन उपकरणों में बाष्प ही प्रधान है। अतएव प्राधान्यन्याय से अभ्र को धूमात्मक कह देना अन्वर्थ बन जाता है। यह बाष्प सूक्ष्मरूप से अन्तरिक्ष में सर्वत्र व्याप्त है। पर्जन्यानुगत समिन्स्थानीय भौतिक वायु (मान्सून) के व्यापार से ही इतस्ततः सूक्ष्मरूप से बिखरे हुए बाष्प एकत्र पुञ्जीभूत होते हैं। यही बाष्पपुञ्ज अभ्र' कहलाया है, जिस की उत्तरावस्था मेघ कहलाई है। चूंकि समिध से धूम का निर्गम होता है, इधर समिल्लक्षण मृगवायु ही बाष्पपुञ्ज का जनक (समाहक) है। इसलिए भी अभ्र को धूम कहा जासकता है।

आन्तरिक्ष्य ज्योति विद्युत् है। यही पर्जन्याग्नि की अर्चि (प्रकाश) है। अतएव अवश्य ही विद्युत् को आन्तरिक्ष्याग्नि ज्वालारूप अर्चि कहा जासकता है। वज्र अङ्गार है, गर्जन सर्जन विस्फुलिङ्ग हैं, जैसाकि आगे विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

एवंविध पर्जन्याग्नि में आन्तरिक्ष्य वायव्यदेवताओं के द्वारा सोम की आहुति होती है। पर्जन्याग्नि, सोम दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से वृष्टि का प्रादुर्भाव

हुआ है। यही आधिदैविक यज्ञ की दूसरी विधा है, जिस का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है।

अन्तरिक्षम् (२) "पर्जन्यो वाव गौतम ! अग्नि । तस्य वायुरेव समित्, अभ्रं धूम, विद्युदर्चि, अशनिरङ्गाराः, ह्रादनयो विस्फुलिङ्गा । तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा सोम राजान जुह्वति। तस्या आहुतेर्वर्षं सम्भवति" (आन्तरिक्ष्ययज्ञ)।

* * * *

। (३)—पिण्डात्मिका (भूतात्मिका) पृथिवी 'भूमि' कहलाई है, एवं महिमात्मिका (प्राणात्मिका) पृथिवी 'पृथिवी' कहलाई है। भूपिण्ड के आधार पर वितत प्राणाग्नि ही प्रकृत में 'पृथिवी' शब्द से गृहीत है। यही प्राणाग्नि पार्थिव भौतिक यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा बनता है। यही भौतिक यज्ञ की योनि है जिस के लिए—'अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य' यह कहा जाता है।

भूपिण्डानुगत प्राणाग्नि भूकेन्द्र से निकल कर १७ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त रहता है, जैसा कि, पूर्व के—'सप्तदशो वै प्रजापतिः' इत्यादि निगदव्याख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है। सप्तदश अहर्गणात्मक आग्नेय मण्डल ही यह पार्थिव सम्वत्सर है, जिस का सार सावित्रप्राणाग्निनिर्माणस्वरूप दिव्य सम्वत्सर के साथ १७ वें अहर्गण में अवस्थान हो रहा है। सप्तदश बिन्दु ही उभयसम्वत्सर की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। यह सम्वत्सर मण्डल वाङ्मय है। वाक्तत्त्व ही भूतविवर्त्त का जनक धर तत्त्व है। अतएव प्राणाग्नि जहां देवाग्नि कहा जा सकता है, वहां वागग्निरूप सम्वत्सर को भूताग्नि कहा जा सकता है। इसी पूर्वसमतुलन से सम्वत्सरमण्डल इस पार्थिव प्राणाग्नि यज्ञ की मिमित माना जासकता है।

परमाकाश पुराणाकाश शरीराकाश दहराकाश (हृदाकाश), इत्यादि भेद से आकाश के अनेक विवर्त्त माने गए हैं। स्वायम्भुव परमेष्ठ्योमन् ही परमाकाश है। सौरमण्डल (सौररोदसीत्रैलोक्य) से सम्बन्ध रखने वाला अर्णवसमुद्रायविछन्न आकाश पुराणाकाश है। शरीर-दहराकाश आध्यात्मिक आकाश हैं। पुराणाकाशरूपा सौर त्रिमार्गी में पार्थिवाकाशलक्षण सम्वत्सर मण्डल प्रतिष्ठित है।

सम्वत्सर के अभ्यासात्मक,' कालात्मक,' वयोनापात्मक भेद से तीन विवत्त हैं। अभ्यासात्मक सम्वत्सर तो समित् है। कालात्मक सम्वत्सर मार्तिसिद्ध बनता हुआ व्यवहार की प्रतिष्ठा बन रहा है। वयोनापात्मक सम्वत्सर ही पार्थिव आकाश है। वाक्परिमाणात्मिका सम्वत्सरमण्डलसीमा ही वयोनापात्मक सम्वत्सर है। यही व्योमात्मक सम्वत्सर कहलाया है, जैसा कि—'व्योमा हि सम्वत्सरः (शत० ८।४।१।११) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। भूपृष्ठपर प्रतिष्ठित असमदादि पार्थिव प्रजावर्ग जिस आकाश का साक्षात्कार किया करते हैं, वह यही पार्थिवाकाश है, जिस का वास्तु स्वरूप पार्थिवाग्नि से उत्थित बाष्प से निष्पन्न हुआ है। इसी बाष्प सम्बन्ध से आकाश को महद्भूतयज्ञ का 'धूम' माना जासकता है।

सौर दिव्याग्नि ज्योतिर्मय है। वही 'यही ह देवेभ्यो अपचक्राम। स कृष्णो भूत्वा चचार' इत्यादि सिद्धान्तानुसार प्रवर्ग्यसम्बन्ध से पार्थिवजगत् में मुक्त होता हुआ कृष्णरूप में परिणत होरहा है। अहःकाल में पार्थिवसंस्था जहां सौर ज्योतिष्मान् सावित्राग्नि से अनुगृहीत रहता है, वहां रात्रि में पार्थिव कृष्णाग्नि का स्वाभाविक विकास रहता है। अतएव कृष्णभावात्मिका वयोमयी रात्रि ही इस पार्थिव महाग्नि की अर्चि मानी गई है। अग्नि के अनुरूप ही तो अर्चि होती है। पार्थिव अग्नि यदि कृष्ण है तो तद्वितकासात्मिका कृष्णा रात्रि भी अवश्य ही कृष्णाग्नि की कृष्णार्चि है।

रात्रिरूप अर्चि जबतक रहती है तबतक दिशाओं का बोध नहीं होता। रात्रि के अवसान पर दिशाएं परिज्ञात होती हैं। अर्चि के अनन्तर होने से ही तो अह्लार का जन्म होता है। इसी समतुलन से दिशाओं को अह्लार माना जा सकता है। अह्लार अवयवी है तो विस्फुलिङ्ग अवयव हैं अनेक हैं, सर्वतो व्याप्त हैं। "मवत इव हीमा अवान्तरदिशा' (शत ७।५।१।११) के अनुसार सभी मान्त अवान्तर दिशाएं हैं। इसी समतुलन से अवयवात्मिका अवान्तर दिशाओं का विस्फुलिङ्ग माना जा सकता है।

उक्त परिग्रह युक्त पार्थिव अग्नि में पार्थिव आग्नेय देवताओं के द्वारा वृष्टि की आहुति होती है। पार्थिव 'मृण्मय भूताग्नियुक्त प्राणाग्नि, तथा आन्तरिक्ष्य वृष्टि (जल) दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से ब्रीहि-यवादि रूपमें 'अन्न' उत्पन्न होता

है। यही मध्यस्थ आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ की मात्र एक विधा है, जिसका यों विश्लेषण हुआ है—

पृथिवी—(३)—"पृथिवी वाव गौतम ! अग्निः। तस्या सम्वत्सर एव समित्,
आकाशो धूमः, रात्रिरर्चिः, दिशोऽङ्गाराः, अवान्तरदिशो
विस्फुलिङ्गा। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति। तस्या
आहुतेरन्नं सम्भवति"। (पार्थिवयज्ञः)।

* * * *

(४)—त्रिविध आधिदैविक यज्ञ तथा एकस्य आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ के तत् स्वरूप विश्लेषण के अनन्तर आधिदैविक आधिभौतिक यज्ञ से तद्रूप आध्यात्मिक यज्ञ के स्वरूपलक्षण पुरुषय विवर्त्त का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है कि, हे गौतम ! पुरुष निश्चयेन (इस आध्यात्मिक यज्ञ का) अग्नि है। यहाँ पुरुष शब्द से वह आध्यात्मिक यज्ञ वैश्वानर अग्नि अभिप्रेत है जो सम्पूर्ण प्राणिवर्ग की प्रतिष्ठा बना हुआ है। एवं जिसका "अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः (गीता १५।१४।) इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है। पञ्चाग्नि-विद्योपक्रम में यह स्पष्ट किया गया है कि, वह यज्ञ प्राणयज्ञ प्राणियज्ञ, भेद से दो भागों में विभक्त है। पार्थिव प्राण अपान है, आन्तरिक्ष्य प्राण व्यान है दिव्य प्राण प्राण है। दिव्यप्राणलक्षण प्राण पार्थिव अपानलक्षण प्राण इन दोनों प्राणापानों से मध्यस्थ व्यानलक्षण आन्तरिक्ष्य प्राण का उसी प्रकार ग्रहण हो जाता है, जैसे कि 'द्यावापृथिवी' शब्द से द्यु पृथिवी के मध्यस्थ अन्तरिक्ष का 'तन्मध्य पतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' न्याय से ग्रहण हो जाता है। पार्थिव अपानाग्नि पार्थिव नर (नाभक-अव्यय) है आन्तरिक्ष्य वायव्याग्नि आन्तरिक्ष्य नर है दिव्य प्राणाग्नि दिव्य नर है। पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौः, तीनों लोकों के अपानात्मक अग्नि व्यानात्मक वायु प्राणात्मक आदित्य तीनों नरों के पारस्परिक अन्तर्याम सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला केश-लोम-नखाग्र-भागों को छोड़ कर (आ लोमभ्यः, आ नखाग्रेभ्यः) सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त रहने वाला तापधर्म्मा आध्यात्मिक अग्नि ही वैश्वानर कहलाया है। इस की आध्यात्मिक यज्ञरूपता को लक्ष्य में रखकर

ही श्रुति ने कहा है—"एवंविधो वै पुरुष' (वैश्वानरः) पञ्च' (ऐत ब्रा० ७।२६।)। वैश्वानरलक्षण आध्यात्मिक पञ्च अग्नि में चूंकि त्रैलोक्याग्नि का समावेश है, अतएव इसके लिये—"वैश्वानरो वै सर्वे अग्नय" (शत ९।७।१।२५) यह कहा जाता है। शरीर में मस्तक भाग द्युलोक है, नाभि पर्य्यन्त भाग अन्तरिक्ष है, गुद—माम्यन्तर भाग पृथ्वी-लोक है, यही आध्यात्मिक—त्रैलोक्य है। इन तीन लोकात्मक तीन पुरों की समष्टिरूप शरीरपुर में सीमित रहने से ही—"स एषोऽग्निर्वैश्वानरो-यत् पुरुष" (शत० १०।६।१।११)-यह लक्षण किया जाता है। महद्योनि के भेद से प्रत्येक अध्यात्मसंस्था (प्राणिशरीर) का वैश्वानर पृथक्-पृथक् शरीराकारों में विभक्त होता हुआ पृथग्वर्त्मा बना हुआ है, जैसा कि—"एष वै पृथग्वर्त्मा वैश्वानरः" (शत० ब्रा० १।६।१।७) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। एवं विध सर्वाग्नि (लोकत्रयाग्नि) लक्षण इस आध्यात्मिक अग्नि के उक्त 'वैश्वानर'—'पुरुष' भावों का ही निम्न लिखित वचनों से स्पष्टीकरण हो रहा है—

(१)—"स य स वैश्वानर —इमे स लोका । इयमेव पृथिवी विश्व, अग्निर्नर । अन्तरिक्षमेव विश्व, वायुर्नरः। द्यौरेव विश्व, आदित्या नर । (विश्वेभ्यो नरेभ्यो जातोऽग्निर्वैश्वानर)" (शत० ९।३।१।३)।

(२)—"इमे वै लोका पू । अयमेव पुरुषः, योऽय पवते । सोऽस्यां पुरि शेत, तस्मात् पुरुष" (शत० १३।६।२।१)।

(३)—"प्राण एव स पुरि शेत । स पुरि शेत-इति पुरिशय सन्तं प्राण 'पुरुष' इत्याचक्षत (परोक्षम् । परोक्षप्रिया इव हि देवा, प्रत्यक्षद्विष ")—गो० ब्रा० पू० १।३९ ।

पाञ्चभौतिक शरीर चित्याग्निमय है, भूताग्निमय है। यही वाङ्मय अग्नि है। यही शरीरपरिच्छिन्न वैश्वानर नामक पुरुषाग्नि की समित है। इसी शरीर पुररूप वागग्नि (शरीर) से यह समिद्ध रहता है। श्वासप्रश्वासात्मक प्राण ही इस समिद्ध शारीराग्नि से अन्नरूप से निकलने वाला धूम है। त्रिदोषप्रभित

अन्नात्मक शब्द ही (वैखरीवाक् ही) इस की अर्चि है। आदित्यप्राणात्मक चक्षु ही अन्धकार में अङ्गारवत् प्रतीयमान (जिस स्थिति का पशुओं की आंखों में रात्रि में प्रत्यक्ष किया जासकता है) चक्षु ही अङ्गार है। वागग्निविकारभूत शब्दश्रुति का अधिष्ठाता श्रोत्र ही विस्फुलिङ्ग है। ऐसे इस आध्यात्मिक पुरुषाग्नि में आध्यात्मिक इन्द्रियदेवताओं के द्वारा अर्थविकारभूत अन्नलक्षण हविर्द्रव्य की आहुति होती है। भुक्तान्न रस-मल के क्रमिक विभाजन से क्रमशः रस, असृक्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा इन धातुरूपों में परिणत होता हुआ अन्ततोगत्वा रेतो रूप में परिणत हो जाता है। यही आध्यात्मिक यज्ञ की प्रथमविधा है, जिस का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

<u>पुरुष (वृषा)-४</u>—"पुरुषो वाव गौतम! अग्नि। तस्य वागेव समिद्,
प्राणो धूमः जिह्वा अर्चि, चक्षुरङ्गारा, श्रोत्र विस्फु-
लिङ्गा। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्न जुह्वति।
तस्या आहुते रेतः सम्भवति" (वृषायज्ञ)।

* * * *

(५)—आध्यात्मिकयज्ञ का दूसरा पर्व है—योषा-यज्ञ। वृषाप्राण जहां पुरुषसर्ग की प्रतिष्ठा है, वहां योषाप्राण स्त्रीसर्ग की प्रतिष्ठा बनता है। वृषाप्राण आग्नेय है, योषाप्राण सौम्य है। आग्नेय वृषा का हृदय सौर अर्द्धाकाश से सम्बन्ध है, सौम्या योषा का हृदय चान्द्र अर्द्धाकाश से सम्बन्ध है। योषाप्राणात्मिका स्त्री के शोणित में प्रतिष्ठित अग्नितत्त्व ही योषा यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है। गर्भाशयगत शोणित में प्रतिष्ठित मातृक (महामायाप्राणात्मक) आग्नेयप्राण ही इस यज्ञ का आहुतिग्राहक अग्नि है। इस योषाग्नि का लोमशक उपस्थ ही समित् है, उपस्थसमित् संयोग से उत्पन्न योषाग्नि-सोम ही धूम है। अन्तस्थ रक्तवर्ण अन्तस्त्थानि है, यही अर्चि है। इत्यादि लक्षण इस योषाग्नि में पुरुषशरीरस्थ प्राणदेवताओं के द्वारा रेत की आहुति होती है। यही हुत रेत कालान्तर में गर्भरूप में परिणत हो जाता है। पञ्चपर्वात्मक यज्ञ के इसी अन्तिम आध्यात्मिक यज्ञरूप का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

स्त्री–(योषा)–५–"योषा वाव गौतम! अग्निः। तस्या उपस्थ एव समिद्।
यदुपमन्त्रयते, स धूमः। योनिरर्चिः। यदन्तः करोति,
तेऽङ्गाराः। अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मि
न्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति। तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति"
छान्दोग्योपनिषत्–५ प्र।४,५,६,७,८ खण्डाः।

* * * *

एक पञ्चाग्निविद्या रूपक पञ्चपर्वात्मक यज्ञ का निष्कर्ष यही हुआ कि, द्युलोकोपलक्षित आदित्याग्नि, अन्तरिक्षलोकोपलक्षित वायव्य पर्जन्याग्नि, भूलोकोपलक्षित पार्थिव अग्नि पुरुषात्मक वृषालक्षण वैश्वानराग्नि (शरीराग्नि), योषाप्राणात्मक रेतोग्नि इन पाँच अग्नियों में क्रमशः श्रद्धा, सोम, वृष्टि अन्न, रेत इन पाँच हविर्द्रव्यों की आहुति होती है। वही श्रद्धालक्षण आप (अपूतत्त्व) उत्त रोत्तर प्रतिष्ठित अग्निसम्बन्ध से सोम–वृष्टि अन्न–रेतारूप में परिणत होता हुआ अन्तिम पाँचवीं रेतो आहुति से पुरुषस्वरूप (गर्भस्वरूप) का आरम्भक (उपादान) बन रहा है। इसी लिए यह निःसन्देह कहा जासकता है कि—

"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"।

१ १ (१) द्यौ ——→ आदित्य (द्युलोक) → श्रद्धा } → आधिदैविकयज्ञ { → प्राकृतयज्ञ }
२-२-(२) अन्तरिक्षम् → वायु (पर्जन्य) ——→ सोम }
३-३-(३) पृथिवी——→ अग्नि (पृथिवी) ——→ वृष्टि] → आधिभौतिकयज्ञ }
४-१-(१) वृषा ——→ वैश्वानर (पुरुष) ——→ अन्नम् } – आध्यात्मिकयज्ञ] → प्रजननयज्ञ } पञ्चाग्निविद्या
५-२ (२) योषा——→ प्राजापत्य (योषा) ——→ रेत }

पञ्चाग्निविद्यात्मक पञ्चयज्ञ के द्वितीय यज्ञपर्व को (पर्जन्ययज्ञ को) सोमा हुति द्वारा वृष्टि का प्रवर्त्तक बतलाया गयाहै जो कि—"अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति" इत्यादि पूर्वोक्त तृतीयदृष्टिकोण से सर्वथा विरुद्ध पड़ता है। पार्थिव अग्नि पार्थिव पानी को वाष्परूप में परिणत कर आन्तरिक्ष्य वायुमण्डल में सञ्चित कर देता

है। अग्निद्वारा वायुगर्भ में सञ्चित यही पार्थिव पानी कालान्तर में बरस पड़ता है यह कथन अवश्यमेव उक्त पर्जन्ययज्ञमीमांसा का प्रतिद्वन्द्वी प्रतीत हो रहा है। 'श्रद्धा सोमरूप में, सोम पर्जन्याग्नि में आहुत होकर वृष्टिरूप में परिणत होता है' अवश्यमेव यह सिद्धान्त तृतीयदृष्टिकोण में व्याघात उत्पन्न कर रहा है। कौनसा सिद्धान्त प्रामाणिक माना जाय ? जब कि दोनों ही श्रुति–सम्मत सिद्धान्त हैं। आर्षसम्प्रदाय उत्तर देती है—जहां परस्पर श्रौतसिद्धान्तों में ही विरोध प्रतीत होता हो वहां दोनों ही प्रमाण हैं। इसलिए कि, यह विरोध केवल स्थूलदृष्टि से सम्बन्ध रखता है। तत्त्वदृष्टि के आधार पर जब समन्वय किया जाता है, तो विरोध का सर्वथा उन्मूलन हो जाता है। केवल निरूपणीया शैली-भेद से विरोध की प्रतीति होती है। वस्तुत: विरोध है नहीं। सृष्टिक्रमारम्भविज्ञानदृष्टि से जहां पर्जन्ययज्ञानुगत वृष्टिसिद्धान्त प्रामाणिक है, वहां स्थितिक्रमानुगतविज्ञानदृष्टि से 'अग्निर्वा' इत्यादि तृतीयदृष्टिकोण सुसमन्वित है।

सृष्टिक्रमसे सम्बन्ध रखने वाली पञ्चाग्निविद्या में अधिदैवत—अधिभूत-अध्यात्मरूप से जिस पञ्चपर्वात्मक यज्ञ का निरूपण हुआ है, उसी का ऐतरेय आरण्यक में उक्थविद्या रूप से स्पष्टीकरण हुआ है। वहां योषात्मक पांचवें पर्व को छोड़ दिया गया है। केवल आरम्भ के प्राणयज्ञात्मक पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौ —इन तीन पर्वों का चौथे पुरुष पर्व का संग्रह करते हुए पञ्चयज्ञ (प्राणियज्ञ) में तीनों प्राण यज्ञों का समन्वय बतलाया गया है (देखिए-ऐत० आ० २ आ । १ अ । २ खं०)। इसी उक्थविद्या का आगे जाकर तृतीयखण्ड में रेतस सृष्टि रूप से जो विश्लेषण हुआ है वह अपना एक स्वतन्त्र ही दृष्टिकोण रख रहा है। वहां दूसरे ही क्रम से सृष्टियज्ञ का विश्लेषण हुआ है। देखिए !

"प्रजापते रेतस सृष्टि —प्रजापते रेतो देवा , देवानां रेतो वर्षं,
वर्षस्य रेत ओषधय , ओषधीनां रेतोऽन्नं, अन्नस्य रेतो रेत ,
रेतसः रेत प्रजा , प्रजानां रेतो हृदय, हृदयस्य रेतो मन ,
मनसो रेतो वाक्, वाचो रेत कर्म्म। तदिदं कर्म्म कृतमयं
पुरुषो ब्रह्मणो लोकः"—(ऐत० आ० २ आ० । १ अ० । ३ ख०)।

उक्त सब दृष्टिकोणों के वैज्ञानिक समन्वय के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि,—पार्थिव सत्याग्नि, आन्तरिक्ष्य सत्य वायु दिव्य सत्येन्द्र, पर्जन्य ऋत वायु, सोम सूर्यरश्मियाँ, पुरोवात, अभ्र, विद्युत, स्तनयित्नु, आदि आदि उपादान-निमित्त कारणों के समन्वय से ही वृष्टि होती है। निम्न लिखित श्रौत स्मार्त्त वचन भी वृष्टि के उक्त कारणों का समर्थन कर रहे हैं—

१—'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति —अग्नि —सत्यम्— पार्थिवाग्नि
२—'वायुर्वै वृष्ट्या ईशे' —— —वायु —सत्यम्— —वायव्याग्नि
३—'आदित्याज्जायते वृष्टि —आदित्य —सत्यम्— —सावित्राग्नि
४—'पार्जन्यं वर्षासु वसते' —— —पर्जन्य —ऋतम्—— आप्याग्नि
५—'सोमाद्वृष्टिर्वै सम्भवति — —सोम —ऋतम्— —चान्द्रसाम
६—'रश्मिभिर्वर्षं समदधात्'—— —रश्मय —सत्यम्— प्राणाग्नि
७ 'पुरोवात ससृजिरे' —— —पुरोवातः—ऋतम्— —वातवायु
८—'अभ्राद् वृष्टिः' ——— —अभ्रम् —ऋतसत्यम् अग्नि-वाय्वादित्यपर्जन्यवारिसंघात
९—'वृष्टिर्वै याव्या विद्युत् ——विद्युत्—ऋतसत्यम्—ज्योतिरग्नि
१ —'स्तनयित्नुर्घोषोऽन्तस्त्रस्यत —स्तनयित्नु -सत्यम् शब्दाग्नि

ऋक्संहितान्तर्गत 'अस्य वामीयसूक्त' के तीन मन्त्रों का वृष्टिविद्या के साथ विशेष सम्बन्ध है। इस के अतिरिक्त कृष्णयजुःसंहिता का 'कारीरीष्टि प्रकरण भी अंशतः वृष्टिविद्या पर प्रकाश डाल रहा है। एवमेव शतपथ—गोपथ – ताण्ड्यादि ब्राह्मणों के, छान्दोग्य-बृहदारण्यकादि उपनिषदों के तत्तद्विशेष स्थलों में भी प्रकीर्णरूप से इस विद्या का स्पष्टीकरण हुआ है। वेदशास्त्रप्रतिपादित सभी विद्या अपि, तत्त्वविज्ञानों के सम्बन्ध में यही एक ऐसी अड़चन है जिस के कारण उन विद्याओं का हम भलीभांति तबतक समन्वय नहीं कर पाते जबतक कि उन प्रकीर्णक प्रकरणों का एकत्र समन्वय नहीं कर लिया जाता। यह समन्वय निश्चयेन महासमारम्भ-साध्य है। अनन्यनिष्ठा से सम्पूर्ण वेदशास्त्र को जबतक लक्ष्य नहीं बना लिया जाता, तबतक उन प्रकीर्णक विषयों का संग्रह असम्भव है। एवं जबतक उन का संग्रह नहीं हो जाता तबतक तद्विद्याओं का आनुपूर्वी से परिज्ञान असम्भव है। अवश्य ही इस जटिलता के िराकरण के सम्बन्ध में भी युगायुग में रहस्य,

निगद, गाथा, कुम्ब्या' आदि वैसे स्वतन्त्र ग्रन्थ रहे होंगे, जिन में इन प्रकीर्णक भावों का, विद्याओं का एकत्र संग्रह रहा होगा। परन्तु दुर्भाग्य से आज तो वे रहस्यात्मक परिभाषाग्रन्थ हमारे दृष्टिपथ से सर्वथा विस्मृत ही होचुके हैं। —यही वेदार्थ की एक महान् जटिलता है, जिस का निराकरण दो चार व्यक्तियों के स्वल्प ज्ञान से कथमपि सम्भव नहीं। होना यह चाहिए कि, बहुसंख्या में योग्य विद्वान् व्यवस्थित मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र-ग्रन्थों के तत्तत्-विद्याप्रतिपादक वचनविभागों का पृथक् पृथक् रूप से संग्रह करें। सब का एकत्र संग्रह करते हुए उन का समन्वय करें। अवश्य ही इस दिशा में उक्त जटिलता दूर की जासकती है। उदाहरण के लिए वृष्टिविद्या को ही लीजिए। अस्यवामीयसूक्त के ५२ मन्त्रों में से केवल ३ मन्त्र ऐसे हैं जिन से वृष्टि विद्या के मुख्य एक सिद्धान्तों का विश्लेषण हुआ है। वे तीनों मन्त्र भी एक साथ पठित नहीं हैं। अपितु तीनों का क्रमशः ३६ ४७ ५१ यह संख्या क्रम है। यही स्थिति अन्य स्थलों की है। यही वह जटिलता है जिस के अनुग्रह से महत्व ब्राह्मण के प्रत्येक प्रकरण में हमें अनावश्यक विस्तारदोष, पुनरुक्तिदोष का शिकार हो कर अनुगमन करना पड़ रहा है। परिणाम स्वरूप पाठकों के लिए हमारा यह अव्यवस्थित प्रयास सुविधा के स्थान में जटिलता का जनक बनता जा रहा है। इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से इस से अधिक क्या निवेदन कर सकते हैं कि जबतक वेदज्ञ विद्वान् सम्मिलित रूप से उक्त पद्धति के अनुसार वेदार्थ का समन्वय नहीं कर लेंगे, तबतक एक दो व्यक्तियों की स्वल्पशक्ति मात्र के आधार पर इस दिशा में सफलता प्राप्त कर लेना असम्भव ही होगा। हमारे ये अव्यवस्थित प्रकरण तो केवल यह पुरुषार्थ कर सकते हैं कि, जिन की दृष्टि में भारतीय शास्त्र केवल रूपकमात्र हैं, वे यह अनुमान करने लगेंगे कि, वेदशास्त्र एक विज्ञानशास्त्र है, उस में प्रतिपादित विद्याएं प्राकृतिक नित्यविज्ञानों का विश्लेषण कर रही हैं। जिन कतिपय प्रतीच्य विद्वानों की वाग्दृष्टि में भारतीय शास्त्र अधिक से अधिक आख्यानवाद का समर्थक है, तदनुयायी उच्छिष्टभोगी अर्वाचीन जो प्राच्य विद्वान् अपनी निधि के वास्तविक स्वरूपज्ञान से वञ्चित रहते हुए इस के प्रति न केवल उदासीन ही हैं अपितु इस का उपहास करना भी जिन के जीवन का एक प्रधान पुरुषार्थ बना हुआ है अवश्य ही उन की भ्रान्ति का ये अव्यवस्थित प्रकरण भी सर्वात्मना नहीं तो अंशतः निराकरण कर सकेंगे। एकमात्र इसी

लक्ष्य से जान बूझ कर इस पद्धति का अनुगमन करना श्रेय पन्था समझा है। जिन्हें वस्तुगत्या वेदविद्या का रहस्यज्ञान प्राप्त करना है उन से तो हम यही निवेदन करेंगे कि, व क्षणिक कण्डू मिटाने वाले प्रस्तुत प्रयासों का एक ओर रखते हुए आनुपूर्वी से स्वयं मूलग्रन्थों को ही अपने स्वाध्याय का विषय बनावें। इस प्रासङ्गिक निवेदन के साथ ही वृष्टिविद्या के अनेक मर्मों का दिग्दर्शन कराने वाले निम्न लिखित ऋक्मन्त्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं—

१—सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चित परिभुवः परिभवन्ति विश्वत ॥

ऋक्सं० १।१६४।३६।

२—कृष्ण नियान हरय सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥

ऋक्सं० १।१६४।४७।

३—समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभि ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नय ॥

ऋक्सं० १।१६४।५१

थोड़ी देर के लिए यह मान लीजिए कि, आकाशस्थ मेघों से भूपिण्ड पर जो पानी बरसता है, वह वस्तुतः पृथिवी की ही देन है। अग्निगर्भ-भूपिण्ड के केन्द्र से अङ्गिरोऽग्नि (प्राणाग्नि) द्युलोक (आकाश) की ओर निरन्तर जाया करता है यह प्रकरण प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है। "अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति" सिद्धान्त इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहा है। इस प्रकार पार्थिव जलमात्रा (समुद्र नद नदियाँ, कूप वापी तड़ाग ओषधि—वनस्पति पार्थिव प्राणिशरीर आदि आदि में रहने वाली जलमात्रा) ऊपर की ओर जाते हुए अङ्गिरोऽग्नि के सम्बन्ध से वाष्परूप में परिणत होकर ऊपर की ओर जाया करती है। इस प्रकार पार्थिव अग्नि पार्थिव जलमात्रा को द्युलोक की ओर ले जाने में एक निमित्त बना हुआ है।

दूसरा निमित्त है—'वायु'। पार्थिव 'मृण्मय' परमाणुओं का गुरुत्वाकर्षण भूपिण्ड के जिस नियमित ऊर्ध्वप्रदेश पर्य्यन्त व्याप्त रहता है वहां तक तो पार्थिव अग्नि ही पार्थिव अन्नमात्रा को ऊपर खींच ले जाता है। ज्यों ज्यों अन्नमात्रा ऊपर चढ़ने लगती है, त्यों त्यों वह पार्थिव गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होती जाती है। पार्थिवाकर्षण विमुक्ता यही अन्नमात्रा 'बाष्प' है। उधर मातरिश्वा वायु भी एक प्रकार का बाष्प ही है। आगे जाकर अन्नमात्रा के ऊर्ध्वगमन का प्रेरक यही बाष्प वायु बनता है। पृथिवी से द्युलोक पर्य्यन्त सप्तविध सूर्य्यनाड़ियाँ वितत हैं। यही 'महापथ' कहलाता है। नाड़ीरूप इसी महापथ से सौर पदार्थों का प्रवर्ग्य-भाग पृथिवी में, पार्थिव पदार्थों का प्रवर्ग्यभाग सूर्य्य में मुक्त होता रहता है। यही नाड़ीमार्ग उभय प्रजापतियों के विस्रस्त भाग की पारस्परिक आदान प्रदान द्वारा पूर्ति किया करता है। सौरपदार्थ, पार्थिवपदार्थ, दोनों ही गतिशून्य हैं। इन का गमनागमन होता है नाड़ी मार्ग से ही, परन्तु निमित्त बनता है—'वायु'। सदागति मातरिश्वा' नामक वायु ही अपने गति धर्म्म से दोनों का संवाहक बनता है। दूसरे शब्दों में वायु-धरातल पर प्रतिष्ठित होकर ही अन्नमात्रा नाड़ीमार्ग से द्युलोक की ओर जाती है।

तीसरा निमित्त है—'सूर्य्यरश्मियाँ'। सूर्य्यरश्मियाँ पार्थिव तत्वों का निरन्तर आदान किया करती हैं। इस आदान धर्म्म से ही सूर्य्यसत्ता में मुक्त इन्द्र—धाता—भग—पूषा—आदि १२ सौर प्राण 'आदत्ते-आददाना' इत्यादि निर्वचनों से 'आदित्य' कहलाए हैं। सर्वरसादानत्व ही आदित्य का आदित्यत्व* है। आदित्यरश्मियाँ ही नाड़ी हैं। नाड़ी-रूप रश्मियाँ भूपृष्ठ पर संलग्न होती हैं। अपने स्वाभाविक सत्यधर्म्म के कारण ऋतधर्म्मात्मक जलादि की भाँति इतस्ततः न जाकर ये रश्मियाँ उसी नियत मार्ग से वापस द्युलोक की ओर लौट जाती हैं। आता हुआ रश्म्यवच्छिन्न सौर तेज जहां 'सावित्री' कहलाया है, वहां प्रतिफलित; साथ ही पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि से समवेत वही सौरतेज 'गायत्री

---

* "स प्राणमेवाग्नेरसृजत, रसमेव पयोऽसृजत, चित्तमेव पुरुषमसृजत, चक्षुरेव पशुमसृजत, मनसैव चन्द्रमसमसृजत। तदसृजत-तस्मादादित्य"—शत० ब्रा० ११।८।३।६-८, ९, १ ११।